वर्ष : 46
अंक : 3
जुलाई - सितंबर 2025
मूल्य 200 रुपए
ISSN 2582-4481

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

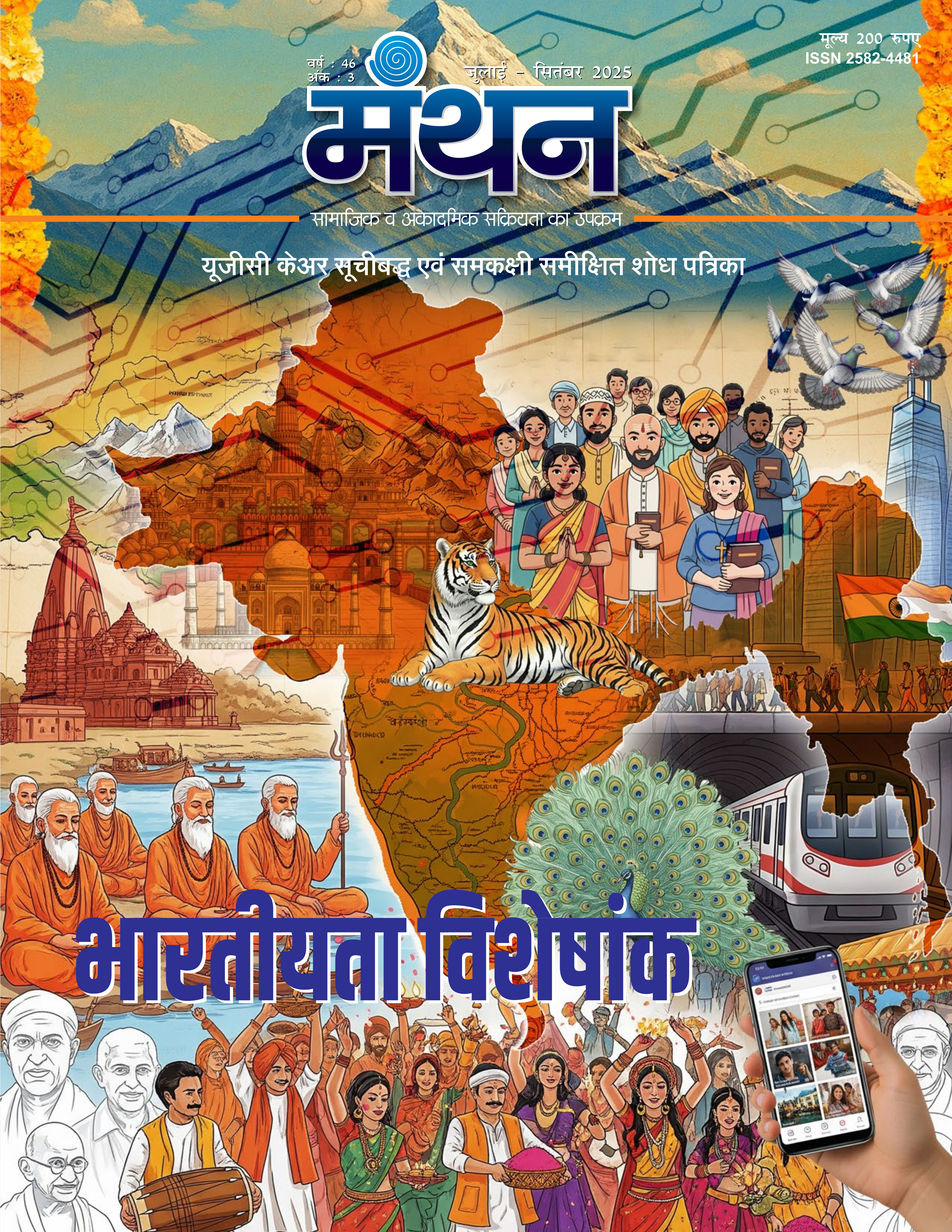

भारतीयता विशेषांक

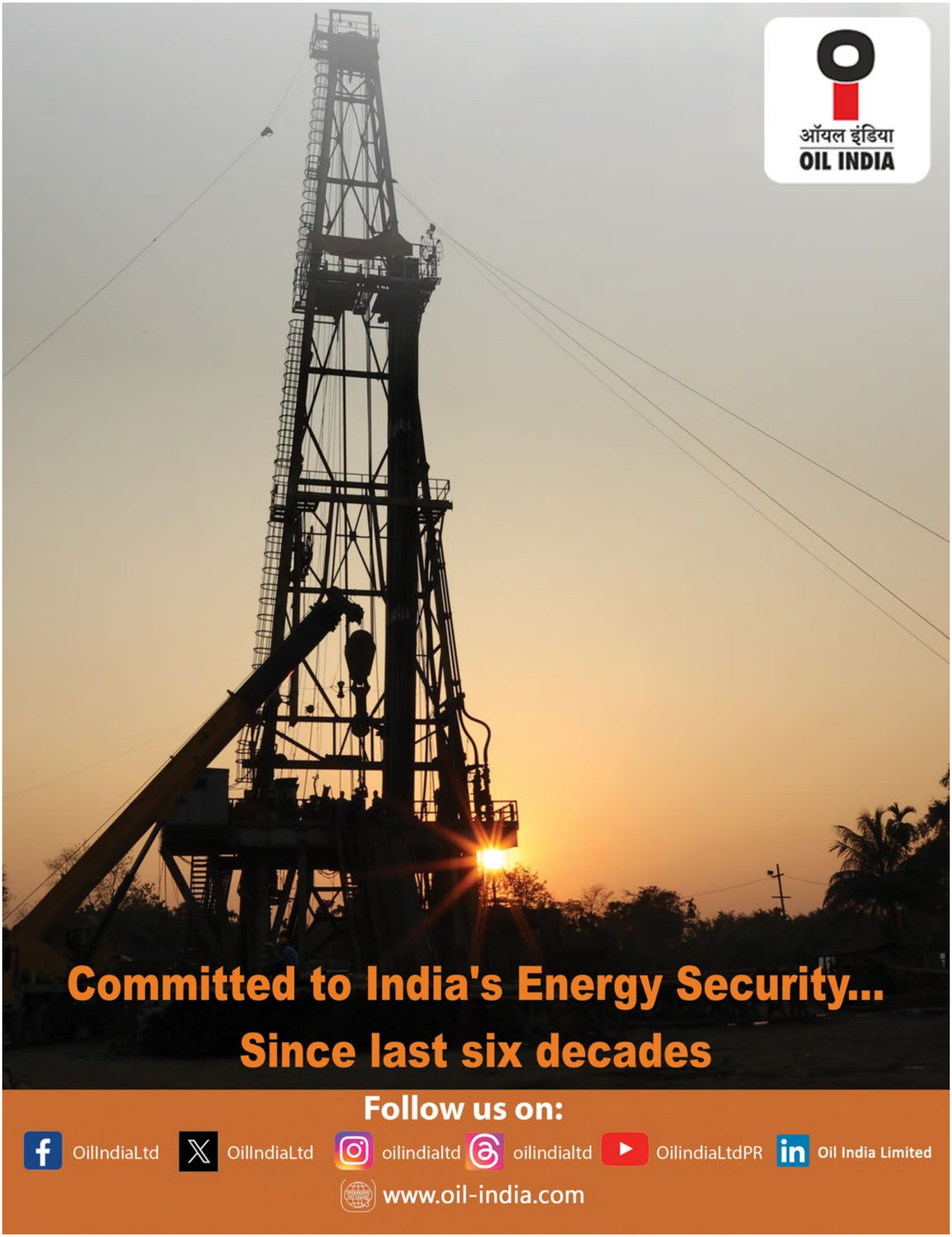
ऑयल इंडिया
OIL INDIA
Committed to India's Energy Security...
Since last six decades
Follow us on:
OilIndiaLtd
OilIndiaLtd
oilindialtd
oilindialtd
OilindiaLtdPR
Oil India Limited
www.oil-india.com

संपादक मंडल
श्री रामबहादुर राय
श्री अच्युतानंद मिश्र
श्री बलबीर पुंज
श्री अतुल जैन
प्रो. भारत दहिया
श्री इष्ट देव सांकृत्यायन

विशेषज्ञ संपादक मंडल
प्रो. सुनील के. चौधरी
प्रो. शीला राय
डॉ. चन्द्रपाल सिंह
डॉ. सीमा सिंह
डॉ. राजीव रंजन गिरि
श्री प्रदीप देसवाल
डॉ. प्रदीप कुमार
डॉ. चन्दन कुमार
डॉ. राहुल चिमूरकर
डॉ. महेश कौशिक

आरएनआई 32486/78 आईएसएसएन 2582-4481
₹ 200/-

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

वर्ष : 46, अंक : 3 जुलाई-सितंबर 2025

भारतीयता विशेषांक

संपादक
डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

यूजीसी केअर सूचीबद्ध एवं समकक्षी समीक्षित शोध पत्रिका

प्रबंध संपादक
श्री अरविंद सिंह
+91-9868550000
me.arvindsingh@manthandigital.com

सज्जा
श्री नितिन पंवार
nitscopy@gmail.com

मुद्रण
ओसियन ट्रेडिंग को.
132, पटपड़गंज औद्योगिक क्षेत्र,
दिल्ली-110092

मंथन सामाजिक एवं अकादमिक सक्रियता को समर्पित एक बहुअनुशासनिक, समकक्षी समीक्षित, शैक्षणिक एवं विषयवस्तु केंद्रित शोध पत्रिका है, जो त्रैमासिक आवृत्ति से वर्ष में चार बार प्रकाशित होती है। यह हर बार किसी एक विशिष्ट विषयवस्तु पर केंद्रित होती है। यह मानविकी के विभिन्न अनुशासनों में शोधरत लेखकों के मौलिक शोधलेखों का स्वागत करती है।

सर्वाधिकार © एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान। सर्वाधिकार सुरक्षित।

अस्वीकरण: एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान प्रतिष्ठान अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त सूचनाओं एवं तथ्यों की परिशुद्धता एवं सटीकता सुनिश्चित करने के लिए सभी संभव प्रयास करता है। फिर भी अपने प्रकाशनों में प्रयुक्त विषयवस्तु की परिशुद्धता, पूर्णता एवं उपयुक्तता के संबंध में कोई वचन नहीं देता और न ही इस संबंध में कोई अभिवेदन देता है। इन प्रकाशनों में अभिव्यक्त विचार एवं दृष्टि लेखकों की है; आवश्यक नहीं है कि एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान इनसे सहमत हो।

प्रकाशक
एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान
एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-110002
दूरभाष : 011-23210074; ईमेलः info@manthandigital.com
Website: www.manthandigital.com

अनुक्रम

1.	लेखकों का परिचय		03
2.	संपादकीय		05
3.	हिंदुत्व ही भारतीयता	श्री मुकुल कानिटकर	06
4.	भारतीय: क्या और क्यों	डॉ. इंदुशेखर तत्पुरुष	12
5.	भारतबोध और भक्ति साहित्य	प्रो. नंद किशोर पाण्डेय	18
6.	अर्थायाम: विश्व कल्याण की दृष्टि	डॉ. महेश कौशिक	23
7.	राज्य और सुशासन की भारतीय दृष्टि	प्रो. संजीव कुमार शर्मा	28
8.	भारत एवं यूरोप के राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद का विमर्शीय आरेखन	प्रो. विश्वनाथ मिश्र	34
9.	भारतीयता और संप्रदाय	डॉ. चंद्र प्रकाश सिंह	39
10.	शब्दोत्पत्ति: हिंद और हिंदुस्तान	प्रो. मजहर आसिफ	43
11.	श्री अरविंद की दृष्टि में सनातन धर्म और भारतीयता	श्री रामानंद शर्मा	49
12.	भारतीयता में स्त्रीत्व: एक विमर्श	डॉ. उपासना तिवारी	57
13.	भारतीय काल गणना की सार्वभौमिकता व खगोल शुद्धता	प्रो. भगवती प्रकाश शर्मा डॉ. जया शर्मा	67
14.	भारतबोध का लीलालोक	प्रो. चंदन कुमार	71

लेखकों का परिचय

श्री मुकुल कानिटकर 1990 में डॉ. बाबासाहेब आंबेडकर विधि महाविद्यालय, नागपुर से विधि स्नातक (एल.एल.बी.) श्री. मुकुल कानिटकर ने 1990 से 2012 विवेकानंद केन्द्र कन्याकुमारी में जीवनव्रति के रूप में कार्य किया है। तृतीय वर्ष शिक्षित मुकुलजी 1990 से प्रचारक हैं। 2012 से 2016 भारतीय शिक्षण मंडल के सह संगठन मंत्री तथा 2016 उत्तरार्द्ध से अखिल भारतीय संगठन मंत्री के दायित्व पर रहे हैं। वर्तमान में राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ में प्रचार विभाग की अखिल भारतीय टोली के सदस्य हैं। वैचारिक प्रबोधन (विमर्श) के समन्वय का दायित्व है। केंद्र नागपुर है।

डॉ. इंदुशेखर तत्पुरुष- प्रख्यात कवि, संपादक एवं स्तम्भ लेखक। प्रमुख कृतियाँ-(कविता संग्रह)-"खिली धूप में बारिश" एवं "पीठ पर आंख", (निबन्ध संग्रह)-"हिन्दुत्व : एक विमर्श" (संपादित ग्रन्थ)-"महामनीषी दीनदयाल" एवं "राष्ट्रबोध, संस्कृति और साहित्य" अखिल भारतीय साहित्य परिषद् की पत्रिका "साहित्य परिक्रमा" का संपादन। कुछ विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में कविताएँ संकलित। साहित्य के क्षेत्र में अनेक राष्ट्रीय स्तर के पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त। संपर्क : 8387062611

प्रो.नन्द किशोर पाण्डेय भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक आलोचना के प्रतिष्ठित विद्वान हैं। आपने काशी हिंदू विश्वविद्यालय से एम.ए. (हिंदी)और पीएच.डी.की उपाधि प्राप्त की है।आप राजीव गांधी विश्वविद्यालय, ईटानगर में हिंदी विभाग में प्रो. एवं अध्यक्ष थे।आप राजस्थान विश्वविद्यालय में विश्वविद्यालय के शोध निदेशक, हिंदी विभागाध्यक्ष, मानविकी पीठ के निदेशक,अधिष्ठाता कला संकाय तथा पत्रकारिता और जनसंचार विभाग के अध्यक्ष रहे हैं।आप केंद्रीय हिंदी संस्थान, आगरा शिक्षा मंत्रालय,भारत सरकार,के पांच वर्षों तक निदेशक रहे हैं। वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग,भारत सरकार के अध्यक्ष रह चुके हैं।आपकी साहित्य साधना और हिंदी भाषा के विकास तथा प्रचार को दृष्टिगत रखकर विश्व हिंदी सम्मेलन फीजी(2023), में विश्व हिंदी सम्मान से अलंकृत किया गया।संत साहित्य की समझ, संत रज्जब, दादूपंथ के शिखर संत,भारतबोध और भक्ति कविता, आधुनिक हिंदी और संस्कृति बोध आपकी बहुचर्चित पुस्तकें हैं। सम्प्रति आप हरिदेव जोशी पत्रकारिता और जनसंचार विश्वविद्यालय, जयपुर के कुल गुरु हैं

डॉ. महेश कौशिक श्री अरविंद महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय में अर्थशास्त्र विभाग में सहायक आचार्य व दिल्ली विश्वविद्यालय के वैश्विक अध्ययन केंद्र में अध्येता के पद पर कार्यरत है। वह विभिन्न शोध-पत्रिकाओं व समाचार-पत्रों में नियमित लेखक हैं। पिछले 15 वर्षो से एस सी आर टी, नेहरू युवा केंद्र में अतिथि वक्ता के रूप में अपनी सेवाएं देते रहे हैं । वह दिल्ली विश्वविद्यालय के वैश्विक अध्ययन केंद्र में चुनाव-सर्वेक्षण में मुख्य संयोजक के रूप में विभिन्न चुनावी अध्ययन परियोजनाओं में कार्य करते हुए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया पर चुनाव संबंधित विषयों पर नियमित रूप से विचार रखते रहे हैं।

प्रो. संजीव कुमार शर्मा भारतीय राजनीति विज्ञान परिषद के दशकाधिक अवधि राष्ट्रीय महासचिव एवं कोषाध्यक्ष, दि इंडियन जर्नल आफ पोलिटिकल साइन्स तथा भारतीय राजनीति विज्ञान शोध पत्रिका के पूर्व संपादक तथा राजनीति विज्ञान विभाग, चौधरी चरण सिंह विश्वविद्यालय, मेरठ के सम्प्रति आचार्य व अध्यक्ष हैं। वह महात्मा गांधी केन्द्रीय विश्वविद्यालय, मोतिहारी के कुलपति रह चुके हैं। वे प्राचीन भारतीय संस्कृत साहित्य और राजनीतिक चिन्तन की भारतीय दृष्टि के अध्येता हैं। वे विगत 38 वर्षो से शिक्षण, अनुसंधान, व प्रशासन में संलग्न हैं।

प्रो. विश्वनाथ मिश्र काशी हिंदू विश्वविद्यालय के अंतर्गत आर्य महिला पीजी कॉलेज में समकालीन राजनैतिक सिद्धांत एवं अंतर्राष्ट्रीय संबंध के आचार्य हैं। उनकी पाँच महत्त्वपूर्ण कृतियों में शामिल हैं - भारतीय राजनीति में क्षेत्रवाद और नृजातीयता, राजविद्या एवं राजनीति शास्त्र, पश्चिमी ज्ञानोदय के वैचारिक संकट, हिंसा का उत्खनन, तथा सनातन गांधी: बापू से वैश्विक संवाद।

डॉ. चंद्रप्रकाश सिंह अरुंधती वशिष्ठ अनुसंधान पीठ, प्रयागराज के निदेशक हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से परास्नातक एवं गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय, हरिद्वार से "भारतीय धार्मिक संप्रदायों की वेदमूलकता" विषय पर विद्यावारिधि (पीएचडी) किए हैं। अभी तक एक दर्जन से अधिक पुस्तकों का लेखन एवं संपादन का कार्य कर चुके हैं, जिनमें से मुख्य वेद एवं विभिन्न संप्रदाय, हिंदू संस्कृति में राष्ट्रवाद, राष्ट्रीय अस्मिता की निरंतरता, राष्ट्र दृष्टि, एकात्म मानववाद विभिन्न आयाम तथा हिन्दू दृष्टा अशोक सिंहल आदि हैं। इसके अतिरिक्त विगत पंद्रह वर्षों से "द जर्नल ऑफ इंडियन थॉट एण्ड पॉलिसी रिसर्च" के संपादन का कार्य कर रहे हैं।

प्रो. मजहर आसिफ सूफी साहित्य और मध्यकालीन भारतीय इतिहास के विशेषज्ञ, नई दिल्ली स्थित जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय में फारसी एवं मध्य एशियाई अध्ययन केंद्र में आचार्य थे। संप्रति जामिया मिलिया विश्वविद्यालय के कुलपति हैं। संपर्क : mazharassam@gmail.com

श्री रामानंद शर्मा दिल्ली विश्वविद्यालय के आर्यभट्ट कॉलेज में राजनीति विज्ञान पढ़ाते हैं और साथ ही दिल्ली विश्वविद्यालय से पीएचडी भी कर रहे हैं। उन्हें भारत सरकार के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग से इंस्पायर पुरस्कार भी प्राप्त हो चुका है और उन्हें इंडियन सोसाइटी ऑफ इंटरनेशनल लॉ से पीजीडीआईएलडी भी मिल चुका है। उनकी शोध रुचियों में भारतीय राजनीति और राजनैतिक विचार शामिल हैं। रामानंद ने विभिन्न अकादमिक प्रकाशनों में योगदान किया है और एसओएल, डीयू पाठ्यक्रम सामग्री के लिए अध्याय लिखे हैं।

डॉ. उपासना तिवारी दिल्ली विश्वविद्यालय के दौलत राम कॉलेज में इतिहास की सहायक प्रोफेसर हैं। इलाहाबाद विश्वविद्यालय से पीएच. डी, उनकी शैक्षणिक रुचियों में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्व शामिल हैं। उन्होंने प्राचीन इतिहास और भारतीय ज्ञान प्रणाली पर कई शोधपत्र प्रकाशित किए हैं। कॉलेज प्रशासन और पाठ्यक्रम विकास में सक्रिय रूप से शामिल, वह नियमित रूप से राष्ट्रीय सम्मेलनों और वेबिनार में योगदान देती हैं। एक भावुक शिक्षिका और आजीवन शिक्षार्थी, वह सामुदायिक विकास कार्यक्रमों और विद्वत्तापूर्ण -सांस्कृतिक पहलों में गहराई से शामिल हैं।

प्रो. भगवती प्रकाश शर्मा अर्थविद होने के साथ ही प्राचीन भारतीय धर्मग्रंथों के विशेषज्ञ भी हैं। वे गौतमबुद्ध विश्वविद्यालय, नोएडा, उत्तर प्रदेश के कुलपति रहे हैं। वे भारत सोलर पॉवर डेवलपमेंट फोरम के संयोजक और स्वदेशी जागरण मंच के सहसंयोजक हैं। संप्रति पैसिफिक विश्वविद्यालय समूह में समूह अध्यक्ष (आयोजना एवं नियंत्रण) हैं।
संपर्क: bpsharma131@yahoo.co.in, Mob: 9829243459

डॉ. जया शर्मा सह आचार्य, प्रबन्ध अध्ययन संकाय, पैसिफिक उच्च शिक्षा व अनुसंधान अकादमिक विश्वविद्यालय, उदयपुर

प्रो. चंदन कुमार दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली के हिंदी, कला संकाय में आचार्य हैं। आचार्य चंदन की प्रतिष्ठा भक्ति रंगमंच के उन्नायक के रूप में है। आचार्य चंदन की विशेष रुचि ईशान्य भारत के भक्तिसाहित्य की सापेक्षता में कलाओं और प्रदर्शनकारी कलाओं के अध्ययन में है। कृष्णभक्त मुसलमान कवयित्री ताज बीबी के पदों और जीवनवृत्त को हिंदी जगत में प्रतिष्ठित करने का श्रेय आचार्य चंदन को है। ताज बीबी पर केन्द्रित आचार्य चंदन की पुस्तक 'हिंदुआनी हौं रहूँगी' चर्चा में है। आचार्य चंदन की प्रकाशित पुस्तकें 'छत्तीसगढ़िया बहुरूपक', 'रानी दुर्गावती', 'भक्त सालबेग' (नाटक), 'बदला पद्म आता' (नाटक), 'श्रीमंत शंकरदेव : जीवन और दर्शन' और 'सिख दर्शन: सनातन का सातत्य' हिंदी की लोकप्रज्ञा का निर्माण करती है।
संपर्क: prof.chandankumar@gmail.com

गेल (इंडिया) लिमिटेड

भारत की अग्रणी प्राकृतिक गैस कंपनी

एनर्जाइजिंग पॉसिबिलिटीज

- *देश में बेची जाने वाली प्राकृतिक गैस में **53%** का योगदान*
- *भारत में प्राकृतिक गैस ट्रांसमिशन में लगभग **68%** की बाजार हिस्सेदारी*

www.gailonline.com

पर हमें फॉलो करें

संपादकीय

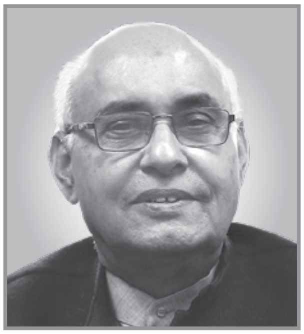

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा

'मंथन' का यह 'भारतीयता' विशेषांक एक दृष्टिकोण को व्यक्त करता है। वह भारत को देखने की दृष्टि है। भारत के राजनैतिक स्वरूप को, जो विविध कालों में परिवर्तनशील रहा। राजनैतिक उठा-पटक की भारतीय मानस पर कुछ न कुछ छाप भी है, लेकिन मूलत: भारत एक भू-सांस्कृतिक अस्मिता है। इस अस्मिता की निरंतरता ही 'भारतीयता' है। राजनैतिक आक्रमणों व प्रतिकार की छाया को समझने की आवश्यकता है। ये छायाएँ तात्कालिक थीं, तात्कालिक ही रहनी चाहिए। भारत की अपनी मूलभूत अस्मिता, जिसमें निरंतरता का बल है, इसीलिए वह सनातन है। इस सनातनता को निरंतर छायाग्रस्त रखने के साम्राज्यवादी प्रयत्न हमारे दृष्टि-पथ को विचलित करते हैं। अत: अपने युगानुकूल वैविध्यों के साथ जो निरंतर है तथा जो मानवता के लिए वरेण्य भी है उसका पुन: पुन: स्मरण आवश्यक है। इसीलिए यह विशेषांक है।

सुधी लेखकों ने अनुसंधानपूर्वक विषय के विविध आयामों का विश्लेषण किया है। यह अगले अंक में भी जारी रहेगा। अगला अंक 'भारतीयता' विशेषांक-दो रहेगा। जिस मूलभूत अस्मिता को इस अंक में रेखांकित किया गया है। उसकी वैविध्यपूर्ण किंतु एकात्म अभिव्यक्ति भारत के महापुरुषों ने, भारतीय वांग्मय ने तथा विविध संप्रदायों ने बखूबी की है। इसी का समाकलन रहेगा इस विशेषांक-दो में।

इस वर्ष के दो विशेषांक 'दलित' एवं 'पसमांदा मुसलमान' को बहुत ही सकारात्मक प्रतिसाद मिला। संपादक मंडल एतदर्थ आभारी है। आने वाले दो अंक भी हमारी पाठकीयता को अनुकूलन प्रदान करेंगे। मैं आशान्वित हूँ। मंथन के सभी अनुसंधानोन्मुखी विद्वान लेखकों के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

आपकी प्रतिक्रिया की तो प्रतीक्षा रहती ही है, सदैव रहेगी। शुभम्।

डॉ. महेश चन्द्र शर्मा
mahesh.chandra.sharma@live.com

मुकुल कानिटकर

हिंदुत्व ही भारतीयता

अस्तित्व के नियमों का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों ने जिस वैज्ञानिक जीवन पद्धति का विकास किया, वही हिंदुत्व है। हिंदुत्व और भारतीयता के अंतर्संबंधों का एक विश्लेषण

अलीपुर जेल से मुक्त होने के बाद कोलकाता के उत्तरपाड़ा में दिए अपने ऐतिहासिक व्याख्यान में महर्षि अरविंद ने कहा, "जब यह कहा जाता है कि भारत का विस्तार एवं उत्थान होगा तब उसका अभिप्राय होता है कि सनातन धर्म संपूर्ण विश्व को प्रभावित करेगा। भारत का अस्तित्व धर्म से है और धर्म के लिए है।" अलीपुर के बंदीगृह में महर्षि अरविंद को अनेक आध्यात्मिक अनुभूतियों का साक्षात्कार हुआ था। उत्तरपाड़ा व्याख्यान में ही उन्होंने बताया कि स्वयं स्वामी विवेकानंद ने उन्हें साक्षात् दीक्षा दी एवं साधना में प्रत्यक्ष मार्गदर्शन किया। परिणामस्वरूप उन्हें न्यायाधीश, अधिवक्ता, प्रतिवादी, बेलिफ, दर्शक, सभी में वासुदेव के दर्शन होने लगे। इसी अनुभूति ने क्रांतिकारी अरविंद को आध्यात्मिक साधक महर्षि में रूपांतरित किया। राष्ट्रकार्य करने हेतु धर्मसाधना अनिवार्य है, इस विश्वास से उन्होंने अपना उर्वरित जीवन पुडुचेरी के पवित्र तीर्थ में बिताया।

स्वामी विवेकानंद ने भी धर्म को ही भारत का प्राण स्वर बताया। 1897 में लाहौर में दिए भाषण में स्वामी जी ने प्रत्येक राष्ट्र के स्वभाव का वर्णन किया। राष्ट्रीयता इसी स्वभाव की अभिव्यक्ति है। भारत का स्वभाव धर्म है। इसलिए हिंदुत्व ही भारत का राष्ट्रीयत्व है। व्याख्यान का विषय था 'हिंदू धर्म के सामान्य आधार'। स्वामी विवेकानंद ने वेद, ईश्वरनिष्ठा, आत्मा की अमरता, कर्म एवं पुनर्जन्म, ओंकार, ये बिंदु हिंदुओं के समस्त मत-पंथ-संप्रदायों में सामान्य रूप से स्वीकार्य तत्त्व के रूप में प्रतिपादित किए।

भारतीयता की संकल्पना को समझने हेतु हमें हिंदुत्व के मूल तत्त्व ठीक से समझने होंगे। जिन सिद्धांतों के माध्यम से एकत्व की जीवनदृष्टि परंपरा में विकसित होकर भारत में निरंतर हुई उस जीवनदृष्टि का नाम हिंदुत्व है। अस्तित्व के नियमों का साक्षात्कार करने वाले ऋषियों ने एक वैज्ञानिक जीवन पद्धति का विकास किया तथा पूरी मानवता को इस रसमय, आनंदमय, आध्यात्मिक जीवन जीने की कला का मार्गदर्शन किया। यही कालांतर में हिंदुत्व के नाम से प्रचलित हुआ। समस्त मानवमात्र के लिए देश-काल-परिस्थिति निरपेक्ष नियमों का साक्षात्कार ऋषियों ने किया। अतः उसे सनातन धर्म कहा गया। सनातन अर्थात् अनादि, अनंत, कालातीत। यही शाश्वत सिद्धांत आचरण में युगधर्म के रूप में प्रचलित हुए। अतः हिंदुत्व और भारतीयता के संबंध को समझने हेतु पहले हिंदुत्व की जीवनदृष्टि के कुछ मूल तत्त्वों को स्पष्ट करना होगा।[1]

एकात्मदृष्टि

समूची सृष्टि में निहित एकत्व को जानकर हमने उसे जीवन में ढ़ाला है। पूरी सृष्टि की जैविक एकता के आधार पर जीवन के हर पहलू को विकसित किया गया। ज्ञान, कला, विज्ञान सभी में यह एकत्व ही प्रगट हुआ। यह केवल आध्यात्मिक एकत्व की बात नहीं, पूर्णतः वैज्ञानिक एकत्व है जिसे आधुनिक विज्ञान अब समझ रहा है। स्वामी विवेकानंद ने उपनिषदों का संदेश बताया था, "एक तिनके के उगने के लिए भी सारी सृष्टि को कार्य करना पड़ता है। पूरे ब्रह्मांड को साथ लिए बिना एक परमाणु भी गति नहीं कर सकता।" इस जैविक एकत्व का साक्षात्कार ही वास्तविक ज्ञान है। समूचे जगत की विविधता में अंतर्निहित एकत्व को जानना ही ज्ञान है। रसायन शास्त्री की अंतिम खोज वह मूल तत्त्व होगा जो सारी रचना को समझा सके। उसी एक की खोज में भौतिकशास्त्री हैं। वे उसे ऊर्जा के एकत्व के रूप में पाने का प्रयास कर रहे हैं।

इस एकात्म दृष्टि के अभाव में ही वर्तमान समय में सत्य की खोज भटक रही है। हिंदू पारंपरिक व्यवस्था में यह एकत्व का अनुभव ही ज्ञान का परम लक्ष्य है।[2]

वर्तमान में सारे जगत में पश्चिम की दृष्टि ही प्रभावी होने के कारण अखंड एकत्व के स्थान पर खंड-खंड विचार ही पूरी ज्ञान परंपरा का आधार बना है। विज्ञान का विकास भी इसी खंडित विचार से होने के कारण ही वह विनाश की ओर अग्रसर हुआ है। इतना ही नहीं, एक विशिष्ट मर्यादा के बाद विज्ञान की प्रगति भी रुक गई दिखाई देती है। अनेक प्रश्नों के उत्तर नहीं मिल पाते। भारत ही इस समस्या का समाधान दे सकता है। चिकित्सा के क्षेत्र में एलोपैथी में समस्या आ गई है कि किसी भी उपाय के साथ ही उसके दुष्परिणाम भी होते हैं। समग्र एवं एकात्म विचार ही इसका एकमात्र उपाय है। अत: मानवता का कल्याण आयुर्वेद की एकात्म दृष्टि व एलोपैथी की निदान तकनीक के समन्वय में ही है। यही स्थिति व्यापार व अर्थशास्त्र में है। खंड-खंड दृष्टि के चलते प्रतिस्पर्धा ने सारे संसार को घेर लिया है। शोषण पर आधारित बाजार के कारण कुछ के आर्थिक विकास का मूल्य अनेक लोगों की गरीबी द्वारा भरा जा रहा है। 'सर्वे भवन्तु सुखिन:' का लक्ष्य पाना हिंदुत्व की दृष्टि से ही संभव है।

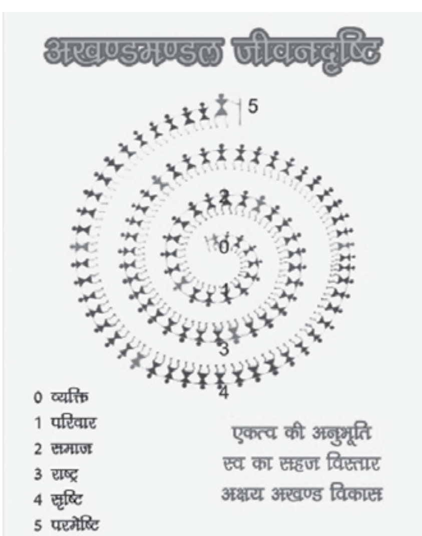

हिंदुत्व की ही इस एकात्मदृष्टि का आविष्कार भारतीयता में हुआ। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् संपूर्ण विश्व को अपना कुटुंब समझने का भाव अचानक जागृत नहीं होता है। यह हृदय के विस्तार की चरम अवस्था है। मन का अखंडमंडलाकार विस्तार अस्तित्व के एक होने के सत्य का साक्षात्कार है। व्यक्तिगत 'मैं' का कोई पृथक अस्तित्व ही नहीं है। बिना संबंध का उल्लेख किए हम स्वयं का परिचय भी नहीं दे सकते। अत: इस व्यष्टि के आत्मीय भाव का विस्तार 'परिवार' ही हिंदुत्व में मूल इकाई है। सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक क्षेत्र में भारतीयता का अर्थ हिंदुत्व के परिवारभाव का प्रगटन ही है। अपने आत्मतत्त्व के प्रतिबिंब को हम परिवार में सहजता से अनुभव करते हैं। एकत्व की इसी अनुभूति को आत्मीयता कहा जाता है। परिवार का सुख, दुख, स्वप्न, आकांक्षा, संकल्प सब के साथ हम सहजता से एकाकार होते हैं। परिवार से आगे समाज, राष्ट्र व समूची मानवता के स्तरों पर आत्मीयता के विस्तार के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। हिंदू जीवनपद्धति में इन प्रयत्नों का सहज अंतर्भाव है। परिवार, समाज, राष्ट्र, सृष्टि व अंतत: परमेष्टि तक एकात्मता की अनुभूति करना, उस हेतु मन में उदारता धारण करना ये हिंदुत्व के महत्त्वपूर्ण अंग हैं। हृदय के इस अखंडमंडलाकार विस्तार का प्रशिक्षण भारतीय समाज रचना व्यवस्था की नींव है।[3]

दिव्यत्व प्रगटन ही जीवनध्येय

प्रत्येक जीव में पूर्णता पूर्व से ही विद्यमान है। यह सुप्त दिव्यत्व स्वयं को अभिव्यक्त करने के लिए प्रयासरत है। जीवन का ध्येय इसे पूर्णत: प्रगट करना है। शिक्षा, प्रशिक्षण, आजीविका, संबंध आदि सब जीवन की दिव्यता को प्रगट करने के माध्यम मात्र हैं। हिंदुत्व के इसी तत्त्व को युगानुकूल दार्शनिक प्रतिमान के रूप में पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने एकात्म मानव दर्शन में स्पष्ट परिभाषित किया है। एकमेव विशिष्ट चिति को अभिव्यक्त करना व्यक्तित्व है। इसी की सामूहिक चेतना-विराट, का आलोक राष्ट्रीय स्वभाव में होता है। आइए इस शास्त्रीय सिद्धांत को वैज्ञानिक दृष्टि से समझने का प्रयास करते हैं।

ऋषियों ने जगत के अस्तित्व को ऊर्जा के स्तर पर जाना। यह अनुभूत ज्ञान था। इसके द्वारा उन्हें जगत की संरचना के नियम ध्यान में आए। अन्य सारी विधियाँ, परंपराएँ इन्हीं नियमों से विकसित हुई। अस्तित्व के, जगत के ये तीन वैज्ञानिक नियम हैं -

(अ) **एकत्व :** पूर्ण जगत जैविक रुप से एक है। ऊपर से दिखते 'नानात्व'- भिन्नता के भीतर एक ही चेतना कार्य कर रही है। आज आधुनिक विज्ञान भी इस एकत्व को जानने लगा है। पर्यावरण के क्षेत्र में विशेषज्ञ बताते हैं कि विश्व में कहीं भी होने वाले परिवर्तन सारे संसार को प्रभावित करते हैं। यह बात अब अधिक स्पष्ट होती जा रही है। विश्व के किसी भी एक कोने में होने वाली दुर्घटना का असर पूरे पर्यावरण पर होता है, यह आज सिद्ध हो गया है। उत्तरी ध्रुव पर बर्फ के पिघलने का परिणाम अफ्रीका व यूरोप में तापमान की वृद्धि में हो रहा है। भौतिकशास्त्र में भी कणों के अध्ययन से सारे जगत के परस्पर जुड़े होने का ज्ञान हो रहा है। सारा जगत एक ही है। परस्पर संबद्ध, परस्पर पूरक व परस्पर निर्भर अंगों का एक सलग अस्तित्व ही जगत का नियम है। यह 'एकत्व' अनुभूति का विषय है।[4]

(आ) **एकमेव विशिष्टता :** एकत्व का बहुत्व में जब प्रगटन होता है तब प्रत्येक अभिव्यक्ति अपने आप में एकमेव होती है। हिंदुत्व का सिद्धांत है कि एक ही अनेक रूपों में प्रगट हुआ। 'एकोऽहम बहुस्याम्'। यह नानाविध संसार उस 'एक' की ही अभिव्यक्ति है। यह अभिव्यक्ति यांत्रिक पुनरावृत्ति नहीं है। बिलकुल भौतिक स्तर पर भी जगत की हर वस्तु अपने आप में अद्वितीय है। प्रत्येक मनुष्य भी एकमेव है। कोई भी सामान्य-एक सा नहीं है, प्रत्येक व्यक्ति अपने आप में असामान्य है, विशेष है। प्रत्यक्ष भौतिक उदाहरण से इसे समझते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के उंगलियों के निशान अपने आप में अद्वितीय हैं। विश्व के 8 अरब लोगों में से किन्हीं भी दो के निशान एकसमान नहीं है। इतना ही नहीं जो मर गए और जो अभी पैदा ही नहीं हुए उनके भी उंगलियों के निशान अद्वितीय हैं। यह निसर्ग का नियम है। अत: यह बहुत्व, केवल एक जैसे अनेक बनना नहीं है, अपितु अपनी-अपनी विशिष्टता को धारण किए नानाविध रूपों में यह अभिव्यक्ति है। यह जगत एक पूर्ण के

विविध अंगों से बना है। प्रत्येक अंग की संरचना, कार्य व भूमिका तीनों अपने आप में अद्वितीय हैं। हममें से प्रत्येक को अपनी एकमेवता का अनुभव करना होगा। तभी हमारी भूमिका स्पष्ट होगी और हम उत्पादक योगदान दे सकेंगे।

(इ) **जैविक संबंध :** नाना अंगों का एक पूर्ण से जैविक संबंध है। जैसे पेड से टूटी डाली सूख जाती है वैसे ही पूर्ण से जुड़ाव के बिना अंग जीवित ही नहीं रह सकता। पेड़ से जुड़ी हुई डाली फूलती-फलती है पर कटते ही सूख जाती है। वैसे ही एकत्व के साथ जुड़ाव के बिना संसार के भिन्न-भिन्न अंगों का अस्तित्व निरर्थक है। मानव का मानव से, मानव का समाज से, मानव का सृष्टि से जो सजीव संबंध है उसे समझना अनिवार्य है। सारे जगत का आपसी संबंध परस्पर पूरक है, जीवंत है। हम सब उसी 'एक' के अंग हैं। जैसे विभिन्न अंगों का अपना-अपना कार्य होता है और प्रत्येक अपने आप में विशेष और महत्त्वपूर्ण है, वैसे ही जगत में प्रत्येक व्यक्ति, परिवार, समाज का भी विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण कार्य है। इस बात को भी अनुभव करना आवश्यक है।

इन तीनों नियमों को समझकर अपने जीवन के ध्येय को पूर्ण के संबंध में निश्चित कर, अपनी भूमिका, कार्य तथा स्वभाव को सही चरितार्थ के द्वारा प्रगट करना ही सच्चे अर्थ में दिव्यत्व का प्रगटीकरण है। जीवन गढ़ने की इस हिंदू वैज्ञानिक पद्धति का आचरण में आविष्कार भारतीयता है।

विविधता का सम्मान

एकत्वदृष्टि का ही परिणाम है कि भारत में विविधता का सम्मान होता है। भारत में हम इस वैज्ञानिक तथ्य को जानते हैं कि वह एक तत्त्व जब प्रगट होता है तब एकमेवता से अभिव्यक्त होता है। जगत में कोई भी दो जीवंत वस्तुएँ एक समान नहीं होती। यहाँ तक कि एक ही पेड़ के दो पत्ते भी पूर्णतः एकसमान नहीं होते। इस सनातन हिंदू सिद्धांत को भारत में जीवन में उतारा गया। इसी के चलते हमने खान-पान, वेशभूषा से लेकर सभी परंपराओं में विविध ता का सम्मान किया। हम सबको एक सा नहीं बनाना चाहते। हम प्रत्येक को उसके बीजत्व के अनुसार पल्लवित, पुष्पित होने का अवसर देते हैं। आंतरिक एकत्व को समझने के कारण बाहरी विविधता से अंतर नहीं पड़ता। भले ही बाहर से कितना भी अलग-अलग क्यों ना हो अंदर से एक ही है, यह बात स्पष्ट न होने के कारण ही पश्चिम में एकत्व के लिए एकरूपता अनिवार्य हो जाती है। सारे जगत के पश्चिमीकरण के कारण सब जगह एक से वेश, कपड़े और केश दिखाई देते हैं। विविधता का सौंदर्य समाप्त ही हो गया है।

कला, ज्ञान तथा पद्धति में मौलिकता महत्त्वपूर्ण हो जाती है। नकल को निकृष्ट माना जाता है। मौलिकता का प्रोत्साहन अनिवार्य हो जाता है। मौलिकता जीवन का, जैविकता का लक्षण है। एकसमान उत्पादन तो यंत्र से ही होता है। एकरूपता के आग्रह से कला व संस्कृति में भी यांत्रिकता आ गई है। भारत में मौलिकता को ही कला माना जाता है। बचपन से ही कलाकार को कुछ नया करने को प्रोत्साहित किया जाता है। अनुसरण द्वारा प्रशिक्षण तो पशुओं के लिए होता है। मानव की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता है-कल्पना करने की क्षमता। विविधता के सम्मान के कारण कल्पना के विकास का महत्त्व भारतीय जीवन में है। आज पुनः इसका जागरण करना आवश्यक है।[5]

विविधता के सम्मान के कारण ही भारत में सर्वसमावेशक जीवन पद्धति का विकास हुआ। 'एकं सत् विप्राः बहुदा वदन्ति' एक ही सत्य को जानकार विद्वान भिन्न भिन्न तरीकों से बताते हैं। यह मंत्र विविधता को स्वीकारने का आधार बना। उपासना पद्धति (religion) की एकरूपता के आग्रह के कारण ही दुनिया में कट्टरता व उससे उत्पन्न आतंक का तांडव मचा है। जो संप्रदाय यह आग्रह करता है कि मेरा ईश्वर ही सच्चा है, अन्य सभी तो शैतान हैं, वह संप्रदाय सबको अपने मत में मतांतरित (convert) करने का आग्रह करता है। सारे सांप्रदायिक संघर्ष इसी से होते हैं। भारत में विविधता को उपासना में भी स्वीकार किया गया। इस कारण विभिन्न मतों के लोग यहाँ सामंजस्य से जी रहे हैं। सामान्यतः उद्घोष किया जाता है कि 'विविधता में एकता हिंद की विशेषता'। किंतु भारतीय विचार में यह कृत्रिम एकता नहीं है। वास्तव में 'एकता की विविध अभिव्यक्ति' यह हमारा मंत्र है। हम इसी का उत्सव मनाते हैं।[6]

ईश्वरनिष्ठा

हिंदू का स्वभाव ही अध्यात्म है। इसके परिणामस्वरूप जीवन के सभी अंगों में ईश्वरनिष्ठा प्रगट होती है। चाहे नृत्य, गायन आदि कलाएँ हो अथवा चर्मकला, धातु गलाना या शस्त्रसंचालन, सभी का अंतिम लक्ष्य ईश्वरानुभूति ही है। यहाँ तक कि 'काम' को भी हमने ईश्वराभिमुख कर दिया। खजुराहो व कोणार्क मंदिर के शिल्पों का यही अर्थ है। ईश्वरप्राप्ति यह भारत में ज्ञान का परमोद्दिष्ट है। हमारे यहाँ गणित की गणना व्यापार के लाभ को गिनने के लिए नहीं है अपितु उसके माध्यम से भी हम संख्या के परे के सत्य, अपरिवर्तनीय ईश्वर को पाना चाहते हैं। जब हम ईश्वरनिष्ठा की बात करते हैं तो हम आस्तिकता की बात नहीं कर रहे। किसी भी बात पर विश्वास करने को हम नहीं कहते। हमारा बल मानने

एकत्वदृष्टि का ही परिणाम है कि भारत में विविधता का सम्मान होता है। भारत में हम इस वैज्ञानिक तथ्य को जानते हैं कि वह एक तत्त्व जब प्रगट होता है तब एकमेवता से अभिव्यक्त होता है। जगत में कोई भी दो जीवंत वस्तुएँ एक समान नहीं होती। यहाँ तक कि एक ही पेड़ के दो पत्ते भी पूर्णतः एकसमान नहीं होते। इस सनातन हिंदू सिद्धांत को भारत में जीवन में उतारा गया। इसी के चलते हमने खान-पान, वेशभूषा से लेकर सभी परंपराओं में विविधता का सम्मान किया। हम सबको एक सा नहीं बनाना चाहते। हम प्रत्येक को उसके बीजत्व के अनुसार पल्लवित, पुष्पित होने का अवसर देते हैं

पर नहीं, जानने पर है। अतः एक नास्तिक भी ज्ञान के क्षेत्र में उतर सकता है। पर उसके भी ज्ञानार्जन का लक्ष्य 'सत्य' ही होगा। वहाँ ईश्वरनिष्ठा सत्यनिष्ठा के रूप में होगी। 'ईशावास्यमिदं सर्व'[7] जैसे वेदमंत्र तथा 'समं सर्वेषु भूतेषु'[8] जैसे गीता के श्लोक इसी तत्त्व को स्पष्ट करते हैं। आज सेक्युलरिज्म की गलत अवधारणा के चलते हमने ज्ञान के इस मूल उद्देश्य को ही राष्ट्र जीवन से बाहर कर दिया है।

भारतीय संस्कृति सामूहिक है क्योंकि हिंदुत्व सामूहिकता में ही विश्वास करता है। हमारी सारी वैदिक प्रार्थनाएँ बहुवचन में हैं। स्वामी विवेकानंद ने तो यहाँ तक कह दिया कि व्यक्तिगत मुक्ति संभव ही नहीं है। यह सामूहिकता का संस्कार भारत की अनूठी विशेषता है। व्यक्ति को अपनी बड़ी इकाई के लिए त्याग करने का प्रशिक्षण बचपन से ही दिया जाता है। व्यक्ति परिवार के लिए त्याग करें। परिवार समाज के लिए, गाँव के लिए, गाँव राष्ट्र के लिए त्याग करें यह हमारा पारंपरिक संदेश है। 'त्यजेत् एकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे, मोक्षार्थे पृथिवीं त्यजेत्' सम्मान सामूहिकता का ही होता है

समुत्कर्ष-धर्माधारित विकास

जैविक सृष्टि के प्रति आत्मीय संवेदना का परिणाम यह हुआ कि भारत ने समग्र एवं शाश्वत विकास के अद्वितीय प्रादर्श का अनुपालन सदियों से किया। अभ्युदय व निःश्रेयस दोनों की समन्वित प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य माना गया। धर्म की यही परिभाषा है। 'अभ्युदय निःश्रेयसौ धर्मः।'[9] अभ्युदय अर्थात् भौतिक विकास किंतु साथ ही निःश्रेयस अर्थात् आत्मिक विकास का भी ध्यान रखना है। दोनों अलग अलग नहीं है। इस कारण प्रकृति के विनाश के मूल्य पर विकास नहीं हो सकता। अभ्युदय के लिए उद्यम करते समय समाज व सृष्टि दोनों के भले का भी ध्यान रखना है। तभी आपका विकास धार्मिक है। धर्म पुरुषार्थ अन्य तीन-अर्थ, काम तथा मोक्ष का आधार है। धर्म पर आधारित अर्थ और काम ही ग्राह्य है। धर्माधारित होने से अर्थ के उपार्जन व काम की पूर्ति में भी परिवार, समाज व सृष्टि का ध्यान रखा जाता है। सबके समन्वय से ही समग्र विकास संभव है। चतुर्विध पुरुषार्थ तथा आश्रम व्यवस्था के द्वारा धर्म को समाज में रूढ़ किया गया। त्याग का आदर्श है - सौ हाथों से उत्पन्न करों व सहस्र हाथों से बाँटों - 'शतहस्तेन समाहर सहस्रहस्तेन संकीर'। यह वेद का निर्देश है।

भारतीय व्यापार की समृद्ध परंपरा सहस्रों वर्षों से निरंतर चल रही है। हमने भले ही संन्यास व त्याग को सर्वोच्च सम्मान दिया हो, किंतु इसका अर्थ यह नहीं कि हमने गरीबी का उदात्तीकरण किया। हिंदू सदा से ही लक्ष्मी का उपासक रहा है। उत्पादकता व व्यापार दोनों ही में हम विश्व में अग्रणी थे। सूदूर पूर्व के द्वीपों से लेकर भूमध्य सागर तक, हमारे व्यापारी जहाज समृद्धि के साथ ही संस्कृति का भी निर्यात करते रहे हैं। मध्य एशिया से चीन तक रेशम मार्ग (Silk Route) से व्यापार चलता रहा। यह सारा व्यापार धर्माधिष्ठित था। हिंदू व्यापारियों के प्रामाणिक व्यवहार को अनेक देशों की भाषा, लोकोक्ति व आख्यायिकाओं में स्थान मिला है। जापानी भाषा में आज भी कहावत है- 'हिंदू कभी झूठ नहीं बोलता'। यह साख हमारे व्यापारियों के सदियों के व्यवहार का परिणाम है। यही समुत्कर्ष का आदर्श है।

सहस्राब्दी के परिवर्तन के समय ईस्वी 2000 में विश्व के समृद्ध देशों के संगठन ओईसीडी (अर्गनाइजेशन फॉर इकोनॉमिक को-ऑपरेशन ऐंड डेवलपमेंट) ने विख्यात अर्थशास्त्री ऐंगस मेडिसन को विश्व का आर्थिक इतिहास लिखने का दायित्व दिया। अध्ययन और अनुसंधान के बाद विश्व का आर्थिक इतिहास- सहस्राब्दी दृष्टिकोण (Economic History of the World – A Millenial Perspective) नाम से ग्रंथ प्रकाशित किया गया। उस ग्रंथ में ईसा के जन्म से प्रारंभ कर 2000 वर्ष का आर्थिक इतिहास पूर्ण शोध के साथ प्रस्तुत किया है। 15वीं शती के प्रारंभ तक भारत ही विश्व का नेतृत्व कर रहा था। विश्व व्यापार के साथ सकल उत्पाद में 43 से 66 % तक का अंश भारत का था। उसके बाद चीन के उदय के कारण भारत का भाग कम होता दिखता है। उत्पादन कम नहीं हुआ, हिस्सा कम हुआ। 19वीं शती के प्रारंभ में अंग्रेजी शासन के स्थिर होने के समय विश्व उत्पाद में भारत का योगदान 23% था। इस विषय में गहन शोध आवश्यक है कि समुत्कर्ष का सिद्धांत समाज के साथ ही औपचारिक व्यवस्था में भी किस प्रकार स्थापित था। विकास के उसी प्रादर्श को युगानुकूल परिवर्तनों के साथ आज पुनः लागू करना होगा।[10]

सामूहिक चरित्र (राष्ट्रीयता)

भारतीय संस्कृति सामूहिक है क्योंकि हिंदुत्व सामूहिकता में ही विश्वास करता है। हमारी सारी वैदिक प्रार्थनाएँ बहुवचन में हैं। स्वामी विवेकानंद ने तो यहाँ तक कह दिया कि व्यक्तिगत मुक्ति संभव ही नहीं है। यह सामूहिकता का संस्कार भारत की अनूठी विशेषता है। व्यक्ति को अपनी बड़ी इकाई के लिए त्याग करने का प्रशिक्षण बचपन से ही दिया जाता है। व्यक्ति परिवार के लिए त्याग करें। परिवार समाज के लिए, गाँव के लिए, गाँव राष्ट्र के लिए त्याग करें यह हमारा पारम्पारिक संदेश है। 'त्यजेत् एकं कुलस्यार्थे ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे, मोक्षार्थे पृथिवीं त्यजेत्'[11] सम्मान सामूहिकता का ही होता है। किसी समय व्यक्ति के मन का विस्तार कर सामूहिक चारित्र्य का विकास करने का जाति, समाज माध्यम थे। जातियों के संकुचित राजनैतिक स्वरूप को प्राप्त कर लेने के कारण अब वर्तमान समय में राष्ट्रीयता का जागरण ही इसका सर्वोत्तम माध्यम है।

राष्ट्रीयता के विकास के लिए राष्ट्रगौरव जगाना आवश्यक है। इस हेतु सही इतिहासदृष्टि अनिवार्य है। इतिहास की ओर आत्मगौरव के साथ देखने का प्रशिक्षण दिया जाना चाहिए। सभी देश अपनी विशेषताओं को बढ़ाचढ़ाकर बताते हैं। भारत में तो जबरदस्ती गौरव बढ़ाने की आवश्यकता नहीं है। केवल सत्य को वर्तमान पीढ़ी के सामने

प्रगट करने की आवश्यकता है। राष्ट्रीयता के जागरण में सबसे महत्त्वपूर्ण बिंदु है - राष्ट्र के प्रति अभिमान। आज हमारी पीढ़ी को अपने देश पर गर्व ही नहीं है। उन्हें यही शिक्षा मिली है कि जो भी अच्छा है, उच्च है वह सब विदेशों से आता है। इसी कारण विदेश यात्रा अभिमान का विषय बन जाती है। अत: राष्ट्रीय चरित्र के निर्माण में आवश्यक है कि स्वदेश की गौरवपूर्ण बातों की संपूर्ण जानकारी दी जाएँ। ज्ञान-विज्ञान के हर क्षेत्र में देशवासियों द्वारा अतीत व वर्तमान में प्राप्त उपलब्धियों की जानकारी सामान्य चर्चा का हिस्सा बनें। इस प्रकार इतिहास को सही दृष्टि से देखना भी राष्ट्रीय चारित्र्य के निर्माण के लिए आवश्यक है।

गौरव के साथ ही राष्ट्रीय ध्येय के प्रति भी सचेत करना आवश्यक है। व्यक्तिगत जीवनध्येय राष्ट्रध्येय के अनुरूप होने से सहज प्रगति हो सकती है। इसी से राष्ट्र के व्रत का भान होगा। राष्ट्र जब अपने व्रत के प्रति जागृत हो तभी अपनी पूर्ण क्षमता के साथ विकास कर सकता है। देश की वर्तमान सभी समस्याओं की जड़ में मूल कारण यही है कि भारत को अपने व्रत का विस्मरण हो चुका है। विश्व का कल्याण ही भारत का जीवनध्येय है। सभी हिंदू 'सर्वे भवन्तु सुखिन:'[12] की प्रार्थना करते हैं। विश्व के मानवमात्र को श्रेष्ठ बनाना हमारा आदर्श है - 'कृण्वन्तो विश्वमार्यं।'[13] मानव जीवन जीने के विज्ञान व कला का जो आविष्कार भारत में हुआ उसका सारे विश्व को प्रशिक्षण देना ही भारत का सनातन जीवनध्येय है। इसी कारण भारत सदा से ही जगद्गुरु कहलाया जाता है। आज उसे अपने इस सम्मानित स्थान को पुन: दिलाना ही हम सब राष्ट्रांगों का जीवनध्येय होना चाहिए। केवल व्यक्तिगत चरित्र-निर्माण पर्याप्त नहीं है। सर्वांगीण व्यक्तित्व विकास और नैतिक उन्नयन के साथ ही राष्ट्रीय चारित्र्य का विकास हमारा ध्येय है। यदि व्यक्तिगत विद्वत्ता, प्रतिभा, संपदा उदात्त राष्ट्रहित के लिए समर्पित ना हो तो वह केवल व्यर्थ ही नहीं अपितु विनाश का भी कारण बनती है। अत: भावनात्मक उदात्तीकरण के द्वारा राष्ट्रीयता का संस्कार सामूहिक चारित्र्य का निर्माण करता है। यह सनातन भारतीय मूल्य है।

पारिवारिक मूल्य

हिंदुत्व संबंधों की संस्कृति है। हम अनजान को भी संबंधसूचक संबोधन से संबोधित करते हैं। सड़क चलते अनजान व्यक्ति को भी हम भाईसाहब, बहनजी कहकर पुकारते हैं। हमारे लिए सब परिवार हैं। विद्यालय को हम शाला परिवार कहते हैं। यहाँ तक कि बैंक की शाखा के सभी साथियों को शाखा परिवार कहते हैं। हमारे लिए किसी भी सामूहिक इकाई का आदर्श परिवार है। परिवार के रूप में विकसित होने पर ही कोई भी समूह अपने सर्वोत्तम को अभिव्यक्त कर सकता है। आत्मीयता, त्याग, सहयोग तथा कर्तव्यपालन इन पारिवारिक मूल्यों से ही वास्तविक सामूहिक कार्य, जिसे आज की भाषा में टीमवर्क कहते हैं, संभव है। 'वसुधैव कुटुंबकम्' का आदर्श पारिवारिक मूल्यों की विश्व में संस्थापना का चरम आदर्श है।

दायित्वबोध (यज्ञकर्म)

यज्ञ हिंदू संस्कृति की अद्वितीय संकल्पना है। प्रत्येक कार्य यदि यज्ञ में आहुति के रूप में किया जाए तो कर्म में उदात्त दायित्वबोध जगता है। यज्ञ का अर्थ केवल अग्नि में हवन कर समिधाओं की आहुति देना नहीं है। यद्यपि यह भी पूर्णत: वैज्ञानिक है, यज्ञ संकल्पना का अर्थ इससे अधिक गहरा है। हमारे जीवनचक्र को बनाए रखने के लिए सृष्टि का सहयोग आवश्यक है। हमसे बड़ी इकाइयों का हमारे जीवन में योगदान हमारे लिए ऋण के समान है। इस ऋण से उऋण होने का माध्यम है यज्ञ। अपने सामाजिक दायित्व को निभाने का सुन्दर साधन है यज्ञ। इसी बात को जीवन में ढालने के लिए हिंदू संस्कृति में पंचमहायज्ञ की योजना है - नरयज्ञ, भूतयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ और ब्रह्मयज्ञ अथवा ऋषियज्ञ। हमारे जीवन को चलाने में जिन सबका योगदान है उनके प्रति अपनी कृतज्ञता की अभिव्यक्ति यज्ञ है। नरयज्ञ में अतिथि भोजन की योजना थी। अनजान व्यक्ति को अपना मानकर भोजन करवाना। अपने लिए योगदान करनेवाले अनेक अज्ञात मनुष्यों का आभार व्यक्त करने की यह आत्मीय पद्धति है। भूतयज्ञ प्राणियों के प्रति संवेदना का जागरण है। अपने परिवार, पूर्वजों के लिए भाव की अभिव्यक्ति पितृयज्ञ तथा समूची सृष्टि का परिपालन करनेवाली पर्यावरणीय शक्तियों को पुन:पोषित करने के लिए देवयज्ञ किया जाता है। अनादिकाल से जिस ज्ञान ने राष्ट्र की परंपरा का पोषण किया उसे आगे बढ़ाने के लिए किया गया नि:स्वार्थ कार्य ब्रह्मयज्ञ में आता है।

हवन के अग्निकुण्ड में समिधाओं की आहुति देना यज्ञ का एक स्वरुप है। यह भी पूर्णत: वैज्ञानिक है। इसके वैज्ञानिक स्वरूप व प्रभाव पर अनुसंधान हो रहा है। साथ ही आज के समय के अनुसार यज्ञ के विज्ञान को समझकर उसको युगानुकूल रूप देना भी आवश्यक है।

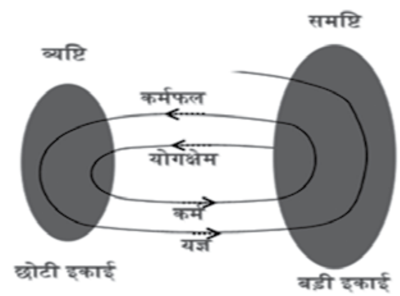

एकात्म मानव दर्शन में पं. दीनदयाल उपाध्याय यज्ञ संकल्पना एक सुन्दर प्रतिमान (Model) से स्पष्ट करते हैं। बड़ी इकाई समष्टि से छोटी इकाई व्यष्टि का जन्म होता है। बड़ी इकाई छोटी का पालन पोषण करती है। इसे योगक्षेम कहते हैं। योगक्षेम को पाकर सक्षम हो व्यक्ति कर्म करने योग्य होता है। वह बड़ी इकाई को कर्म प्रदान करता है। कर्म के बदले में व्यष्टि को समष्टि से कर्मफल प्राप्त होता है। तो इस लेनदेन में योगक्षेम व्यष्टि पर उधार रहा। उस ऋण से उऋण होने का माध्यम है - यज्ञ, अर्थात् नि:स्वार्थ भाव से किसी भी प्रतिफल की अपेक्षा किए बिना किया गया कार्य। यह आहुति ही जीवन की सार्थकता है। समाज भी यज्ञ से ही पुष्ट होता है। यज्ञ के चलते रहने से ही समाज में अगली पीढ़ी का पोषण करने का सामर्थ्य बना रहता है।[14]

सब कार्यों में यही दायित्वबोध होने से जीवन परिपूर्ण होता है। यह यज्ञ संस्कृति का ही परिणाम है कि भारत में कर्तव्यों को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया। अधिकारों की आज के अर्थ में कभी बात ही नहीं की गई। संस्कृत में अधिकार शब्द का अर्थ पात्रता,

योग्यता के रूप में होता है। कोई व्यक्ति सम्मान अथवा पद का अधिकारी है कहने का अर्थ होता है कि उसमें वह योग्यता है। अंग्रेजी के 'क्वालिफिकेशन' शब्द का अर्थ अधिकार के साथ अधिक निकट है। 'राइट्स' के अर्थ में दावेदारी करना अधिकार का अर्थ कभी नहीं रहा। उस अर्थ में भी कर्तव्यों के समुचित पालन से ही सबके अधिकारों की रक्षा संभव है। कर्तव्यों पर ध्यान दिए बिना केवल व्यक्तिगत अधिकारों का विचार करने से ही आज समाज में स्वावलंबन व अनुशासन का अभाव हो गया है। यज्ञकर्म के जागरण से यह ठीक होगा।

शास्त्रीय जीवन दृष्टि

हिंदू जीवनदृष्टि पूर्णतः शास्त्रीय है। अंग्रेजी शब्द 'साइंस' का सही पर्याय शास्त्र केवल बाहरी पदार्थ के स्तर का कार्यकारण संबंध नहीं है। इस दृश्यमान् जगत के मूल में जो चेतन तत्त्व कार्य कर रहा है उसके सभी स्तरों की अनुभूति को भारत में शास्त्र कहा जाता है। ऊर्जा के सूक्ष्मतम् स्वरूप 'प्राण' का ज्ञान हमारे ऋषियों ने अत्यंत सूक्ष्मता तक समग्र विस्तार से किया। उन्होंने जगत के भिन्न भिन्न पदार्थों में विद्यमान प्राण की मात्रा, प्रवाह, गति व गुणों को समझा व उस आधार पर अत्यन्त शास्त्रीय जीवन पद्धति का विकास किया। वास्तुशास्त्र, आयुर्वेद, शकुनविद्या, योग आदि सब प्राणविद्या पर ही आधारित हैं। जीवन में किन वनस्पतियों को कितना महत्त्व देना है यह भी इसी पर निर्भर करता है। कालगणना, शिल्परचना, कृषि सभी का विकास इसी शास्त्रीयता से हुआ। सामान्य रुप से घरों में पाले जाने वाले नियम भी इसी शास्त्रीयता पर आधारित हैं। सूर्य जगत की समस्त ऊर्जा का मूलस्रोत होने के कारण हमारा जीवन उसके साथ जुड़ा है। इसी को ध्यान में रखते हुए दिनचर्या की रचना की गई। सुबह सूर्य के उगने से पूर्व प्रकाश होने तथा सायं सूर्य के अस्त होने के बाद भी प्रकाश के रहने को संधिकाल कहा जाता है। इस समय तामसिक कार्य – जैसे सोना, बाल काटना, नाखून काटना आदि वर्जित किए गए। संधि में जो भाव होगा उसका कई गुना परिणाम संभव है। इसलिए प्रातः संधि के समय उपासना, अध्ययन आदि तथा सायं संधि में शारीरिक कार्य करने को कहा गया। ऐसे ही हर कार्य का विज्ञान समझा जा सकता है। तुलसी, पीपल, गाय का महत्त्व भी प्राणविज्ञान से ही समझा जा सकता है। जगदीश चंद्र बसु ने इस दिशा में प्रयोग प्रारंभ किए थे। उन्होंने सिद्ध किया था कि वनस्पति में प्राण है। धातु में प्राण को सिद्ध करने वाले प्रयोग भी उन्होंने प्रारंभ किए थे। धातु पर विषप्रयोग के परिणाम को उन्होंने सफलतापूर्वक सिद्ध किया। किंतु उनके बाद वह कार्य आगे नहीं बढ़ा।

इस वैज्ञानिक दृष्टि के कारण ही भारत में ज्ञानप्राप्ति के लिए बाह्य प्रयोगों से अधिक अनुभूति को वरीयता दी गई। ऐंद्रिक निरीक्षणों से परे अनुभूति ही ज्ञान का वास्तविक माध्यम है। भारत में जानकारी को ग्रहण करना ज्ञान नहीं है। ज्ञान का अर्थ है अनुभव। वास्तव में यही शास्त्रीय विधि है। प्रत्येक व्यक्ति के अंदर पूर्ण ज्ञान होता है, उसे केवल अभिव्यक्त करना होता है। अनुभव से ही यह संभव है। अतः अनुभवजन्य ज्ञान ही महत्त्वपूर्ण है। लौकिक से लेकर आध्यात्मिक तक सब ज्ञान अनुभूति से ही प्राप्त होता है। इसी व्यापक विचार के कारण भारत के द्वार ज्ञान के लिए सदा खुले रहे हैं। 'आ नो भद्रः क्रतवो यन्तु विश्वतः'[15] – कल्याणकारी ज्ञान विश्व की सभी दिशाओं से प्राप्त करें। यह हमारा मूलमंत्र है।

हिंदुत्व के सिद्धांतों को हमने इन 9 तत्वों से समझा है। इनका और भी विस्तार किया जा सकता है, किंतु ये मूल तत्त्व हैं। अन्य सभी बातें इसमें आ जाती हैं। (1) एकात्मदृष्टि (2) दिव्यत्व प्रगटन (3) विविधता का सम्मान (4) ईश्वरनिष्ठा (5) समुत्कर्ष (6) सामूहिक चरित्र (7) पारिवारिक मूल्य (8) दायित्वबोध तथा (9) शास्त्रीय जीवनदृष्टि। इन सबको जीवन के हर क्षेत्र में लागू करना ही वास्तव में भारतीयता की अभिव्यक्ति अर्थात् स्वतंत्रता होगी।

डॉ. केशव बलिरामपंत हेडगेवार ने संघ की स्थापना के साथ कहा कि 'हिंदुत्व ही राष्ट्रीयत्व है'। हमने हिंदुत्व की जीवनदृष्टि से ऋषियों द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों को सूचीबद्ध किया। यही हमारे राष्ट्रीय स्वभाव का मूल है। इसे ही हम भारतीयता कहते हैं। भारतीयता का अर्थ वे हिंदू सनातन सिद्धांत जिनका विकास वैज्ञानिक आधार पर हमारे ऋषियों ने किया और समय समय पर युग की आवश्यकताओं और चुनौतियों के अनुरूप ढ़ालकर जीवन में उतारा। वर्तमान समय में आज की आवश्यकता के अनुसार इसी कार्य को पुनः करना आवश्यक है। इन सिद्धांतों को हम भारतीय इसलिए कह रहे हैं क्योंकि इनकी समझ व प्रयोग इस भूमि में अनादिकाल से हुआ। परिणाम व प्रभाव की दृष्टि से तो ये सार्वभौम हैं। पूरे विश्व में हर युग में ये सिद्धांत लागू हो सकते हैं। इसी कारण हमने इसे सनातन अर्थात् किसी भी काल में किसी भी स्थान पर लागू होने वाले, यह संज्ञा दी। आज के संदर्भ में वर्तमान युगानुरूप व्यवस्था का निर्माण करने के लिए आइए, इन मूल शाश्वत सिद्धांतों को जीवन में आत्मसात करने का संकल्प करते हैं।

संदर्भ–

1. *एकात्ममानववाद्* – पंडित दीनदयाल उपाध्याय, द *लाइफ डिवाइन* – श्री अरविन्द
2. को मोहः को शोकः एकत्वमानुपश्यतः। (*ईशावस्योपनिषद्–श्लोक – 7*)
3. *एकात्ममानववाद्* – पंडित दीनदयाल उपाध्याय
4. *तैत्तिरीय उपनिषद* – ब्रह्मानन्द वल्ली, अनुवाक – 5
5. *ऋग्वेद*–मण्डल 1, सूक्त 164, मंत्र 64
6. द डिस्कवरी ऑफ इंडिया, नेहरू
7. *ईशावास्योपनिषद्* – 1.1
8. *श्रीमद्भगवद्गीता* – 13.27
9. *वैशेषिक सूत्र* – 1.1.1
10. ऐंगस मैडिसन– "द *वर्ल्ड इकोनॉमीः अ मिलेनियल पर्सपेक्टिव*" (2001, ओईसीडी डेवलपमेंट सेंटर) और इसका सहायक खंड "द *वर्ल्ड इकोनॉमीः हिस्टोरिकल स्टैटिस्टिक्स*" (2003) पर आधारित है।
11. *विदुर नीति* 5.17
12. *वृहदारण्यकोपनिषद्* – शांतिमंत्र
13. *ऋग्वेद* 9.63.5
14. *एकात्ममानववाद्* – पंडित दीनदयाल उपाध्याय
15. *ऋग्वेद* 1.89.

डॉ. इंदुशेखर तत्पुरुष

भारतीयता क्या और क्यों?

भरत के नाम पर बना भारत। कौन हैं वह भरत, क्या संबंध है उनका हमारी संस्कृति और हमारे जीवन-दर्शन से? ऐसे कई प्रश्नों के उत्तर तलाशने का एक शोधपरक प्रयास

भारतीयता को जानने के लिए यह अनिवार्य प्रतिश्रुति है कि हम सर्वप्रथम भारत के अभिप्राय को जानें। भारत का 'स्व'भाव ही भारतीयता है। इस स्वभाव को समझने के लिए यह जानना अपरिहार्य है कि भारत क्या है?

यह तो सर्वविदित है कि इस देश का भारतवर्ष नाम भरत के कारण ही हुआ, किंतु यह भरत कौन है; इस पर कोई एकीय मत नहीं है। भारतीय वाङ्मय में भरत को लेकर अलग-अलग मत प्रकट किए गए हैं। यह मतभिन्नता आज की नहीं, हजारों वर्षो से चली आ रही है। यह तथ्य इस बात का भी द्योतक है कि भारतवर्ष इतना प्राचीन देश है कि सहस्राब्दियों पूर्व भी इसके नामकरण के स्रोतों को लेकर चिंतन-मनन होता रहा कि वह महान् विभूति भरत कौन से हैं, जिसके कारण यह देश भारतवर्ष कहलाया। हमें उन सभी आधारभूत कारणों अर्थात् भरतों को जानना प्रसंगोचित होगा, जो भारतवर्ष के नामकरण का आधार बनकर भारतीयता को अर्थवत्ता प्रदान करते हैं।

भारत के पौराणिक वाङ्मय में तीन भरतों का उल्लेख प्रमुखता से मिलता है। प्रथम- दुष्यंत और शकुंतला के पुत्र भरत, जो अत्यंत पराक्रमी सम्राट हुए। भीष्म, पांडव, कौरव आदि भी इन्हीं भरत के वंशज होने के कारण 'भारत' कहलाते हैं। लोक में भारतवर्ष के नामकरण को लेकर इन्हीं भरत की सर्वाधिक प्रसिद्धि है। महाभारत में इनके लिए कहा गया हैं कि, "भरताद् भारती कीर्तिर्येनेदं भारतं कुलम्। अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुता:।।" (आदिपर्व -1.69.49)

अर्थात् भरत से ही यह भूखंड भारत हुआ। उन्हीं से यह वंश भरत वंश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उनके बाद उस कुल में पहले तथा आज भी जो राजा हुए, वे भी भारत कहे जाते हैं। अग्निपुराण के अनुसार "दुष्यंत और शकुंतला का पुत्र भरत था वह समस्त शत्रुओं का दमन करने वाला था, उसी के नाम से यह देश भारत कहलाता है।"

दूसरे हैं, ऋषभ के पुत्र भरत, जो चक्रवर्ती सम्राट हुए। मार्कंडेय, स्कंद, विष्णु आदि प्रमुख पुराणों में प्राप्त वर्णन के अनुसार, "स्वायंभुव मनु के आग्नीध्र्, आग्नीर्ध्के नाभि, नाभि के ऋषभ और ऋषभ के भरत नामक पुत्र हुए। ये भरत, ऋषभ के सौ पुत्रों में सर्वश्रेष्ठ थे। इनके पिता ने इनको "हैमवतवर्ष" नामक देश का राज्य दे दिया। भरत के नाम से ही यह भारतवर्ष प्रसिद्ध हुआ। कतिपय पुराणों के वचन निम्नवत् हैं। विष्णु पुराण में उल्लेख है कि ऋषभदेव के पुत्र भरत के नाम पर यह भूभाग भारतवर्ष कहलाया।

"ऋषभस्य सुतो जज्ञे भरतो नाम वीर्यवान्।.....
"भरतो येन कीर्त्यते तद् भारतं वर्षमुच्यते।"
(विष्णु पुराण- 2.1.31)

स्कंदपुराण कहता है कि-

"नाभे: पुत्रश्च ऋषभ ऋषभाद्बरतोऽभवत्।
तस्य नाम्ना त्विदं वर्ष भारतं चेति कीर्त्यते।।"

श्रीमद्भागवत पुराण के पंचम स्कंध में जंबूद्वीप और उसके विभिन्न वर्षो (-भूभागों) का वर्णन है। इसमें पृथ्वी को सात द्वीपों में विभाजित बताया गया है, जिनमें जंबूद्वीप प्रमुख है। जंबूद्वीप को नौ वर्षो (भूखंडों) में बाँटा गया, जिनमें से एक भारतवर्ष है। ऋषभदेव के पुत्र भरत के लिए कहा गया है कि भरत ने अपने पिता ऋषभदेव से राज्य प्राप्त किया और इस भूभाग पर शासन किया। उनके नाम पर ही इस खंड

का नाम "भारतवर्ष" पड़ा।

"यस्य हि नाम्ना इदं भारतं वर्ष तत् प्रजानां सौम्यं कर्मफलं च।।" (श्रीमद्भागवत पुराण, 5/4/9)

अर्थात् जिन (भरत) के नाम से यह भारतवर्ष कहलाता है, उनकी प्रजा के लिए यह भूमि कर्म और उनके फल की प्राप्ति के लिए सौम्य (कल्याणकारी) है।

प्रमुख जैन ग्रंथों के अनुसार भी ऋषभ पुत्र भरत के कारण यह देश भारत कहलाता है।

तीसरा अल्पज्ञात किंतु अति महत्त्वपूर्ण उल्लेख मत्स्यपुराण का है जिसके अनुसार मनु को ही भरत कहा गया है। मत्स्य पुराण के इस अध्याय (अध्याय संख्या 50) का नाम ही "भारतवर्ष वर्णनम्" है। इस पुराण में भारत के भूगोल का भी विस्तृत वर्णन मिलता है। यहाँ सूतजी कहते हैं कि "प्रजा का भरण करने और प्रजनन के कारण मनु को ही भरत कहा जाता हैं। निरुक्त के वचनों के अनुसार भी यह देश भारत कहा गया है।"

"भरणात्प्रजनाच्चौष मनुर्भरत उच्यते।
निरुक्तवचनात्चौव वर्षम् तद्भारतम् स्मृतम्"
(मत्स्य पुराण 114/5)

भरण-पोषण और प्रजाओं की उत्पत्ति के कारण मनु को ही भरत कहकर मनु से भारतवर्ष के नामकरण की यह बात दो कारणों से बहुत महत्त्वपूर्ण है। प्रथम तो यह कि प्रजाओं के भरण से संबंधित इस मान्यता के सूत्र हमें ऋग्वेद में भी मिलते हैं, जो इस बात का प्रबल साक्ष्य है कि देश में भरतों की महान् परंपरा अत्यधिक प्राचीन है और उतनी ही प्राचीन है भारत की यह पहचान। दूसरा महत्त्व यह है कि यहाँ भरत कोई एक व्यक्तिमात्र न होकर एक विशेष प्रवृत्ति का द्योतक है जो भारतीयता को एक अर्थ प्रदान करता है। भरत संज्ञा यहाँ व्यक्तिवाचक न होकर जातिवाचक अथवा भाववाचक अर्थ में प्रयुक्त हुई है।

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर भरण, पोषण अथवा धारण करने वाली अग्नि को भरत-अग्नि कहा गया है। भरत नामक अग्नि का उपासक होने के कारण यह देश भारत कहा गया। वैदिक काल में आर्यों की एक शाखा का नाम 'भरत' था, जिसका इस भूभाग पर प्रभाव रहा। डॉ. रामविलास शर्मा अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पश्चिमी एशिया और ऋग्वेद' में इस भरत समूह की प्रभावी उपस्थिति का उल्लेख करते हुए लिखते हैं-

"इस (सरस्वती) नदी के किनारे भरत जन रहते थे। मैकडनल के अनुसार सरस्वती और दृशद्वती की तटभूमि पर अग्नि के प्रज्वलित होने का उल्लेख है (3.23.4); अत: संभव है कि सरस्वती के किनारे भरतों के उपासना स्थल रहे हों। (मैकडनल: वैदिक माइथोलॉजी पृ. 87) इन्हीं भरतों ने नदियों को पार किया था (अतारिषुर्भरता : 3.33.12)। कांतिमान अग्नि भरतों के लिए (भरतेभ्य:) प्रकाशित है (5.11.1)। देवाश्रवा और देववात, इन दो भारत ऋषियों (भारता) ने मंथन द्वारा अग्नि को उत्पन्न किया था। (3.23.2)। विश्वामित्र का स्तोत्र भारतजन की रक्षा करता है। (विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम् -3.23.2)। भरतों के बारे में पुसाल्कर कहते हैं, "भारतों ने पूरे देश को अपना नाम दिया, ऋग्वैदिक गणों में वे सबसे महत्त्वपूर्ण थे।" किंतु ऋग्वेदोत्तर काल में, "भरतों का एक गण के रूप में लोप हो जाता है।" (द वेदिक एज : आर सी मजूमदार पृ. 247 एवं 252) गण रूप में भरतों का लोप प्राचीन भारतीय इतिहास की अतिशय महत्त्वपूर्ण घटना है।"

[पश्चिम एशिया और ऋग्वेद, अध्याय 5, पृ. 148]

डॉ. शर्मा के इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि आरंभिक काल में इस भूभाग पर एक भरत गण था जिसके कारण इस देश का नाम भारत पड़ा। यद्यपि कालांतर में वह भरत गण लुप्त हो गया किंतु देश का नाम भारत चला पड़ा।

इसी अभिप्राय का एक शोधपरक अध्ययन 'हिंदू धर्मकोश' में उपलब्ध होता है, जो इस प्रकार है-

"ऋग्वेद तथा अन्य परवर्ती वैदिक साहित्य में भरत एक महत्त्वपूर्ण कुल का नाम है। ऋग्वेद के तीसरे और सातवें मण्डल में ये सुदास एवं त्रित्सु के साथ तथा छठे मंडल में दिवोदास के साथ उल्लिखित हैं। इससे लगता है कि ये तीनों राजा भरतवंशी थे। परवर्ती साहित्य में भरत लोग और प्रसिद्ध हैं। शत. ब्रा. (13.5. 4) अश्वमेध यज्ञकर्ता के रूप में भरत दौष्यंति का वर्णन करता है। एक अन्य भरत शतानीक सामाजित का उल्लेख मिलता है, जिसने अश्वमेध यज्ञ किया। ऐत. ब्रा. (8. 23.21) भरत दौष्यंति को दीर्घतमा मामतेय एवं शतानीक को सोमशुष्मा वाजप्यायन द्वारा अभिषिक्त किया गया वर्णन करता है। भरतों की भौगोलिक सीमा का पता उनकी काशीविजय तथा यमुना और गंगा तट पर यज्ञ करने से चलता है। महाभारत में कुरुओं को भरतकुल का कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि ब्राह्मणकाल में भरत लोग कुरु-पांचाल जाति में मिल गए थे।

भरतों की याज्ञिक क्रियाओं का पंचविंश ब्रा. (14.3, 13; 15,5,24) में बार-बार उल्लेख आता है। ऋग्वेद (2.7.1,5; 4.25.4,5.16,19; तै.सं. 2,5,9,1; शत. ब्रा. 1.4,2,2) में भारत अग्नि का उल्लेख आया है। रॉथ महाशय इस अग्नि से भरतों के योद्धा रूप की अभिव्यक्ति मानते हैं, जो संभव नहीं। ऋचाओं (ऋ० 1.22,10; 1.42,9; 1.88,8; 2.1,11; 3,8; 3.4,8 आदि) में भारती देवी का उल्लेख है जो भरतों की दैवी रक्षिका शक्ति है। उसका सरस्वती से संबंध भरतों को सरस्वती से संबंधित करता है। इस महाद्वीप का भरतखंड तथा देश का भारतवर्ष नामकरण भरत जाति के नाम पर ही हुआ है। ऋषभदेव के पुत्र भरत अथवा दौष्यंति भरत के नाम पर देश का नाम भारत होने की परंपरा परवर्ती है।

(हिंदू धर्मकोश-पृ.सं. 469, संपादक -डॉ. राजबली पाण्डेय, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान, लखनऊ द्वारा प्रकाशित)

वस्तुत: ऋग्वेद में भरत शब्द दो अर्थों में व्यवहृत हुआ है। एक अर्थ में यह 'भरत जन' के लिए प्रयुक्त हुआ है। ऋग्वेद में कहे गए, "विश्वामित्रस्य रक्षति ब्रह्मेदं भारतं जनम्।" (3.53.12) का भावार्थ है कि विश्वामित्र की प्रार्थनाएँ इस भरत जन की रक्षा करती हैं। इसका दूसरा अर्थ है कि, भरत शब्द अग्नि-विशेष के पर्याय के रूप में आया है। अग्नि का अविष्कार मानव सभ्यता के विकास का प्रथम आधार है।

अग्नि के बिना न कृषि संभव थी, न यज्ञ कर्म। इस अग्नि को 'भरत' कहा गया है। और 'भरत' रूपी अग्नि का उपासक होने के कारण यह देश भारत कहलाया। अग्नि के प्रथम आविष्कर्ता, प्रयोगकर्ता और उसके विस्तारक भरतगण, अग्नि से ऐसे एकाकार हो गए प्रतीत होते हैं कि वैदिक वाङ्मय में अग्नि को ही भरत कह दिया। "अग्निर्वै भरत:। स वै देवेभ्यो हव्यं भरति" (कौषीतकि ब्राह्मण, वाजसनेय ब्राह्मण) अर्थात् यह अग्नि ही भरत है। यही देवताओं के लिए हवि का भरण करता है।

इसलिए भारत शब्द का 'भा + रत' के रूप में पदच्छेद करता हुआ शब्दधातुपरक अर्थ एक रोचक संयोग होने के साथ ही भरतभाव के मूल अभिप्राय को व्यक्त करता है। 'भा' शब्द 'भासृ दीप्तौ' धातु से बनता है जिसका अर्थ होता है प्रकाश, ज्ञान का प्रकाश। इससे 'भारत' का तात्पर्य हुआ, जो 'भा' में 'रत' है। जो प्रकाश (भा) के लिए निरंतर लगा (रत) रहे। "तमसो मा ज्योतिर्गमय" और "मृत्योर्माऽमृतम् गमय" की चिरंतन प्रार्थना का उद्‌गम भारतवर्ष ही है, जो इसके नाम को अर्थसिद्ध करता है।

व्याकरण की दृष्टि से भारत शब्द की व्युत्पत्ति 'भृ' धातु से होती है, जिसका अर्थ भरना, आपूरण करना, पूरित करना होता है। जो भरण-पोषण में रत है, वह 'भरत' है, और भरत से ही यह देश भारत है। अत: भारतीयता की भावभूमि एवं अर्थबोध स्वयं 'भारत' शब्द में अंतर्निहित है।

यहाँ एक एक विचारणीय प्रश्न उठता है कि जिस भूमि पर मनु, पृथु, दिलीप, राम, जैसे महापुरुषों की एक सुदीर्घ परंपरा विद्यमान रही हो, वहाँ इस भूभाग का नामकरण भरत के नाम पर चर्चित हुआ। क्या मनु से अधिक गौरवास्पद नाम मिल सकता था जिन्होंने न केवल मनुष्य जाति का प्रवर्तन किया, अपितु पूरे संसार को एक विधि व्यवस्था प्रदान की। क्या पृथु से भी महान् कोई और व्यक्तित्व होगा, जिसने समूची पृथ्वी को समृद्धि संपन्न कर एक आवासीय व्यवस्था प्रदान की। क्या दिलीप जैसा महामानव कोई कम था जिसने मानवेतर उच्च संस्कृति केंद्र स्वर्ग से गौरवशाली संबंध स्थापित किए और उच्चतम जीवन मूल्यों की प्रतिष्ठा की। अथवा मानवीय मर्यादा के मानदंड पुरुषोत्तम श्रीराम से भी श्रेष्ठतर किसी अन्य व्यक्तित्व की परिकल्पना की जा सकती है? तो फिर क्या था इस भरत नाम में, जो संसार के प्राचीनतम जनाकीर्ण भूखंड को इन्हीं के नाम से जाना जाने लगा?

भारतीयता की अवधारणा इस प्रश्न के उत्तर में ही निहित है, जो भरत शब्द के अर्थालोक में प्रकाशित होती है। भरत शब्द का अर्थ होता है भरना, आपूरण करना; जो रीते को पूर्ण कर दे, लबालब भर दे। पूर्णता जीवन का पर्याय है। हमारे संपूर्ण जीवन प्रयत्न इस परिपूर्णता के लिए ही है क्योंकि रिक्तता मृत्यु है तथा अधूरापन प्रकृति है। पूर्णता की ओर यात्रा जीवन है। इस यात्रा का सुगम संपादन करना धर्म है, संस्कृति है, सभ्यता है। मनु, पृथु, दिलीप आदि चरित्रों में वह वैयक्तिक श्रेष्ठता तो है, जो अन्यत्र कहीं नहीं है तथापि प्राणीमात्र की आत्यंतिक संसिद्धि की जो बात भरत शब्द में निहित है वह अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ भरत एक व्यक्तिमात्र नहीं, एक भाव है, जीवन की प्रक्रिया है, जगत की व्यवस्था है। एक ऐसी संभावना है, जो सारे संसार का मार्गदर्शन करने और उसका भरण-पोषण करने का सामर्थ्य रखती है। यह तत्व ही 'भारत' होना है, जिसे गोस्वामी तुलसीदास "बिस्व भरन पोषन कर जोई। ताकर नाम भरत अस होई" के रूप में अत्यंत सहजता से व्यक्त कर देते हैं। यद्यपि यह बात दशरथ पुत्रों के नामकरण अवसर पर कही गई है, तथापि 'भरत' शब्द का भावार्थ यही है। यही 'भारत' होने सार्थकता भी है कि वह धन-धान्य, बुद्धि, विवेक, बल और चरित्र की दृष्टि से केवल स्वयं का ही नहीं अपितु विश्वभर का पोषण करने का सामर्थ्य रखता हो।

यही कारण है कि महामनीषी दीनदयाल उपाध्याय एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग पर भारत देश के नामकरण में भरत शब्द के इसी निहितार्थ का स्मरण कराते हैं। बंबई में आयोजित 22 से 25 अप्रैल 1965 की चार दिवसीय एकात्म मानववाद भाषण शृंखला में चौथे दिवस के व्याख्यान में वे कहते हैं कि, "जिस भरत के नाम पर इस देश का नाम भारत पड़ा है, उसकी व्याख्या भी यही है कि 'भरणात् रक्षणात् च' अर्थात् भरण और रक्षण के कारण वह भरत कहलाता था। उसका यह देश भारत है। इस देश में भरण-पोषण की गारंटी न रही हो, 'भारत' नाम सार्थक नहीं होगा।"

भारतीयता के मूलाधार भारत की विवेचना में हमको भारतीयता के तीन आयाम मिलते हैं-

1.भौगोलिक, 2.राजनैतिक एवं 3.सांस्कृतिक।

ये तीनों आयाम मिलकर भारतीयता को राष्ट्रीयता की संज्ञा प्रदान करते हैं। अत: जब यह प्रश्न उठता है कि भारतीयता क्या है, तो ये तीनों आधार एकसाथ प्रतिध्वनित होते हैं। यह माना जाता है कि राष्ट्र एक भू-जन-सांस्कृतिक इकाई है। यह न अकेले भारत की भौगोलिक परिभाषा पर निर्भर है,

भारतीयता की अवधारणा इस प्रश्न के उत्तर में ही निहित है, जो भरत शब्द के अर्थालोक में प्रकाशित होती है। भरत शब्द का अर्थ होता है भरना, आपूरण करना; जो रीते को पूर्ण कर दे, लबालब भर दे। पूर्णता जीवन का पर्याय है। हमारे संपूर्ण जीवन प्रयत्न इस परिपूर्णता के लिए ही है क्योंकि रिक्तता मृत्यु है तथा अधूरापन प्रकृति है। पूर्णता की ओर यात्रा जीवन है। इस यात्रा का सुगम संपादन करना धर्म है, संस्कृति है, सभ्यता है। मनु, पृथु, दिलीप आदि चरित्रों में वह वैयक्तिक श्रेष्ठता तो है, जो अन्यत्र कहीं नहीं है तथापि प्राणीमात्र की आत्यंतिक संसिद्धि की जो बात भरत शब्द में निहित है वह अन्यत्र कहीं नहीं। यहाँ भरत एक व्यक्तिमात्र नहीं, एक भाव है, जीवन की प्रक्रिया है, जगत की व्यवस्था है

भारतीय चिंतन के मर्मज्ञ विद्यानिवास जी की यह उक्ति भारतीयता के उस सारतत्त्व को व्यक्त करती है, जो मनुष्य को आत्मबोध से विश्वबोध तक जोड़ देती है। भारत की यह दृष्टि जितनी राष्ट्रीय है उतनी ही वैश्विक है। संपूर्ण विश्व का कल्याण इसी दृष्टि में निहित है। अकारण नहीं है कि यह बात भारतीयता 'क्या' के साथ-साथ भारतीयता 'क्यों' के प्रश्न के उत्तर की ओर भी संकेत करती है। भारतीय जीवन दर्शन समग्र संसार में एक सर्वव्यापक तत्त्व की उपस्थिति स्वीकार कर ब्रह्मांड से पिंड तक सभी को अंगांगीभाव से जोड़कर देखता है। यह समग्रता, यह वैश्विकता ही भारतीयता है। यह यात्रा जिस पथ पर अनवरत चलती रहती है उस प्रशस्त पंथ का तत्त्व है एकात्म विश्व-दर्शन। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने इसी को नाम दिया 'एकात्म मानवदर्शन'

न अकेले इस पर राज्य करने वाली अधिसत्ता पर। और न ही केवल इस भूखंड के निवासियों पर। भारतीयता का समग्र स्वरूप इन तीनों की समवेत अवस्था में संभव होता है।

जब हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारत की राष्ट्रीयता ही भारतीयता है, तो हमें यह जानना प्रासंगिक हो जाता है कि भारतीयता की पहचान क्या है? वे कौन से लक्षण, चिह्न हैं जो भारतीयता के ज्ञापक हैं। वे कौन से मापदंड हैं जिनके आधार पर हम भारतीयता को परिभाषित कर सकते हैं?

प्रत्येक राष्ट्र की अपनी विशिष्ट पहचान होती है। विशेषकर उन राष्ट्रों की, जो सहस्राब्दियों के जीवनानुभव और विश्व प्रकृति से तादात्म्य स्वरूप एक अनुकूलतम संरचना एवं एक विशिष्ट जीवनपद्धति निर्मित कर लेते हैं। विश्व के प्राचीनतम राष्ट्र इस भारतवर्ष की भी कुछ निजी विशेषताएँ, कुछ मौलिकता हैं, कुछ पद्धतियाँ हैं, जो इसे अन्य राष्ट्रों से पृथक करती हैं। वे सारी विशेषताएँ और मौलिकताएँ, जो इस अवधारणा को निर्मित करती हैं, वही भारतीयता है। भारतीयता के इस वैशिष्ट्य को पंडित विद्यानिवास मिश्र ने अपनी विशिष्ट शैली में इस प्रकार व्यक्त किया है-

"भारतीयता की पहचान एक सतत व्यापार है और वह वस्तुत: अपनी ही पहचान है, इसलिए मैं इसकी सार्थकता निरन्तर अनुभव करता हूँ। इस प्रयत्न में अपनी ही संस्कृति के ऊपर केवल आस्था नहीं होती, वरन् विश्व संस्कृति को समझने के लिए भी एक खुला मन मिलता है जो किसी भी जातीय या देशीय पूर्वग्रह से मुक्त है। (आमुख - 'भारतीयता की पहचान' : विद्यानिवास मिश्र, वाणी प्रकाशन)

भारतीय चिंतन के मर्मज्ञ विद्यानिवास जी की यह उक्ति भारतीयता के उस सारतत्त्व को व्यक्त करती है, जो मनुष्य को आत्मबोध से विश्वबोध तक जोड़ देती है। भारत की यह दृष्टि जितनी राष्ट्रीय है उतनी ही वैश्विक है। संपूर्ण विश्व का कल्याण इसी दृष्टि में निहित है। अकारण नहीं है कि यह बात भारतीयता 'क्या' के साथ-साथ भारतीयता 'क्यों' के प्रश्न के उत्तर की ओर भी संकेत करती है। भारतीय जीवन दर्शन समग्र संसार में एक सर्वव्यापक तत्त्व की उपस्थिति स्वीकार कर ब्रह्मांड से पिंड तक सभी को अंगांगीभाव से जोड़कर देखता है। यह समग्रता, यह वैश्विकता ही भारतीयता है। यह यात्रा जिस पथ पर अनवरत चलती रहती है उस प्रशस्त पंथ का तत्त्व है एकात्म विश्व-दर्शन। पंडित दीनदयाल उपाध्याय ने इसी को नाम दिया 'एकात्म मानवदर्शन'।

भारतीय मनीषा ने यह माना कि "सर्व खल्विदं ब्रह्म" के अनुसार सभी में एक परमव्यापक तत्व विद्यमान है। यह सारा चराचर जगत ईश्वर का अंश है। जिस प्रकार विभिन्न अंगोपांग देह के अविभाज्य घटक हैं, उसी प्रकार यह विश्व भी एकात्मक है। व्यक्ति-व्यक्ति, व्यक्ति और समाज, समाज और प्रकृति, प्रकृति और परमेश्वर एक दूसरे में अनुस्यूत हैं, गुँथे हुए हैं। यह शस्यश्यामला धरती हमारी माँ है, ये नदियाँ जीवनदात्री जननी हैं, ये पर्वत हमारे पोषक हैं, ये वृक्ष हमारे पालनहार हैं, ये सब हमारे अपने हैं, ये सभी 'ईशावास्य' हैं। इनमें परस्पर संघर्ष होना अथवा अनुभव करना वैकारिक अवस्था है। जीवन संघर्ष के फलस्वरूप 'योग्यतम के संरक्षण' (सर्वाइवल ऑफ द फिटेस्ट) के विचार को भारतीय दृष्टि उपयुक्त नहीं मानती है। यह पाशविक व्यवस्था है जो 'मात्स्य न्याय' के नाम से जानी गई है। आत्मरक्षा के लिए आत्मपोषण में प्रवृत्त होना जीवमात्र की प्रकृति है और स्वयं के पोषण के लिए दूसरों का अंश छीनना विकृति है। किंतु आत्मपोषण के साथ 'आत्मेतर अन्य' के पोषण का भी विचार करना भारतीयता की पहचान है। भारतीय मान्यता है निर्बल का यत्नपूर्वक संरक्षण। यह सक्षम का उत्तरदायित्व है कि वह अक्षम की रक्षा करे। संपन्न का दायित्व है कि वह विपन्न का पोषण करे। योग्यजन का उत्तरदायित्व है कि वे अयोग्य को साथ लेकर चलें। अयोग्य का बहिष्कार नहीं संस्कार हो-यह समाज के योग्यजन की जिम्मेदारी है। किसी एक प्रकार के एक ही प्रकृति-प्रवृत्ति वाले लोगों का वर्ग समाज नहीं होता। ज्ञानी-अज्ञानी, बलवान-निर्बल, संपन्न विपन्न, गोरे-काले, देव-दानव सभी के समुच्चय को समाज कहते हैं। जो ज्ञानीजन हैं वे अपने से अल्पज्ञ का बहिष्कार न करें। अज्ञानियों के विरुद्ध मोर्चा बनाने के स्थान पर उन्हें ज्ञानवान् बनाने का उत्तरदायित्व लें। शक्तिशाली, निर्बल का तिरस्कार न कर उनकी रक्षा का दायित्व लें। धनिक लोग निर्धन को दान देकर उसे भी समाज में रहने की आश्वस्ति प्रदान करें। भारतीय शास्त्रों में दान की महत्ता इसी विचार की ओर इंगित करती है। एक प्रसिद्ध संस्कृत सुभाषित से इस भारतीय दृष्टिकोण को समझा जा सकता है -

"विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां

परपीडनाय।
खलस्य साधोः विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय।।"

अर्थात सज्जन और दुर्जन व्यक्ति में यह अंतर होता है कि दुर्जन की विद्या विवाद के लिए, धन घमंड के लिए और शक्ति परपीड़न के लिए होती है। जबकि, सज्जन की विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति रक्षा के लिए होती है। संघर्ष, वर्गवाद और द्वंद्वात्मक दृष्टिकोण की परिणति जहाँ विवाद, मद और पर उत्पीड़न में होती है वहीं भारतवर्ष का एकात्मक चिंतन ज्ञान, दान और रक्षण को वरेण्य मानता है। यही भारतीयता का मूलमंत्र है।

भारतीयता को पहचानने, समझने के लिए एक और महत्त्वपूर्ण पक्ष पर विचार करना आवश्यक है, वह है आस्तिकता। इस आस्तिकता से भारतीय संस्कृति को भली भाँति समझा जा सकता है। यहाँ आस्तिकता का अभिप्राय किसी शास्त्रीय अथवा संप्रदायपरक परिभाषा से नहीं अपितु संसार को रचने वाली एक सर्वोच्च अलौकिक सत्ता में विश्वास करने से है। ऐसा नहीं है कि आस्तिकता की भावना भारत में ही विद्यमान है, अन्यत्र नहीं। परंतु आस्तिकता का जो रूप भारत में मिलता है वह अनूठा है। भारतीय आस्तिकता एकेश्वरवाद के स्थान पर सर्वेश्वरवाद को स्वीकार करती है। सर्वेश्वरवाद भिन्न मत को सहजता से स्वीकार करने की प्रेरणा देता है। जबकि एकेश्वरवाद स्वभावतः भिन्नमत के प्रति हेय दृष्टि उत्पन्न करता है। यह प्रवृत्ति असहिष्णुता की जनक है। यह लोकतंत्र विरोधी प्रवृत्ति है, जो अंततः संकीर्णता को जन्म देती है। 'अन्य' मत के प्रति असहिष्णुता ही सांप्रदायिकता का सबसे बड़ा कारण है। स्मरणीय है कि भारतीय चिंतन की "सर्व खल्विदं ब्रह्म" की अवधारणा सर्वेश्वरवाद का एवं "एकम् सद्विप्रा वहुधा वदन्ति" की अवधारणा सर्वपंथ-समादर भाव का मूल आधार है।

यही कारण है कि संसार में अन्यत्र जहाँ-जहाँ भी आस्तिकता की भावना है वह उनके जीवन का अंग होते हुए भी भारत की तरह संपूर्ण जीवन व्यवहार में रमी हुई नहीं है। जीवन में सर्वांग समाविष्ट नहीं है। उनकी आस्तिकता एक पूजालय, एक ग्रंथ, एक ईश्वरीय प्रतिनिधि द्वारा रेखांकित होती है और जीवन में कुछ विधि-निषेधों का संपादन करती हुई, एक अलग प्रकोष्ठ में सिमटी हुई रहती है, जिसकी आवाजाही रोजमर्रा जिंदगी के अन्य कक्षों में नहीं रहती। किंतु "सियाराम मय सब जग जानी। करहुँ प्रनाम जोरि जुग पानी" और "हरि व्यापक सर्वत्र समाना" के प्रति आस्थावान भारत की आस्तिकता का अजस्र स्रोत मिट्टी के कण-कण और जीवन के क्षण-क्षण से फूटता हुआ मिलता है।

कैलास के उत्तुंग शिखरों से लेकर सिंधु के गहन तल तक, कंकड़ों, शिलाखंडों से लेकर माटी के ढेलों तक, वट-अश्वत्थ-बिल्व पत्रों से लेकर तुलसी के बिरवों तक, आक-धतूर-पूग-नारिकेलों से लेकर इंदीवर-कंदबों तक, हरी-हरी दूब, हल्दी, अक्षत और गेहूँ की बालियों तक, चबूतरों, चतुष्पथों, स्थानकों तक, धरती से लेकर आकाश तक हमारा निर्विकार परम ब्रह्म परमात्मा कहीं शिव, कहीं शक्ति, कहीं सौभाग्य, कही सौंदर्य, कहीं शुचिता का रूप धरकर रम गया। इतना ही नहीं, भारत में विज्ञान, ज्योतिष, चिकित्सा शास्त्र, अर्थशास्त्र, राजनीति शास्त्र, वनस्पति शास्त्र आदि समूची विद्याएँ, कलाएँ और विज्ञान इसी आस्तिकता की छत्र छाया में पले-बढ़े। यह बहुत विलक्षण बात थी। सारे संसार भर में ऐसा कहीं नहीं हुआ। ऐसे बहुत उदाहरण संसार में मिल जाएंगे कि किसी वैज्ञानिक, किसी चिकित्सा शास्त्री अथवा किसी गणितज्ञ के विरुद्ध आस्तिकता के पुरोध ाओं ने मौत के फतवे, फरमान जारी कर दिए। किंतु पूर्णतः विधेयात्मक मूल्यों पर आधारित एवं रचनात्मक मूल्यों से संचालित भारतीय अस्तिकता ने इन सभी क्षेत्रों को पुष्पित-पोषित किया। भारतीय जीवन के केंद्रबिंदु मंदिर आध्यात्मिक अधिष्ठान मात्र नहीं रहे। इन्होंने जीवन के रागात्मक तत्त्वों यथा नृत्य, संगीत, स्थापत्य, मूर्तिकला, चित्रकला, नाट्य, पाककला आदि को जिस चरमोत्कर्ष पर ला खड़ा किया वह अभूतपूर्व है। आयुर्वेद, ज्योतिष, विधि, अर्थनीति आदि में पिरोई हुई आस्तिकता तो असंदिग्ध है ही, भारतीय वाङ्मय में विज्ञान और आस्तिकता को जिस प्रवीणता के साथ गूँथा गया, वह अद्‌भुत बात है। कहीं प्रेय बनकर रच गई यह आस्तिकता तो कहीं श्रेय बनकर बस गई।

आस्तिकता की इस व्यापक भावभूमि पर आधारित धर्म की अवधारणा भी इस संदर्भ में अवधेय है। वैशेषिक दर्शनकार कणाद कहते हैं, "यतोऽभ्युदय निःश्रेयस सिद्धिः स धर्मः" - धर्म उस व्यवस्था का नाम है जो भौतिक और अध्यात्मिक उन्नयन का साधनभूत होती है। धर्म की सत्ता व्यक्तिनिष्ठ नहीं व्यवस्थानिष्ठ होती है। इसी में इस संसार की प्रतिष्ठापना निहित है (धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा)। अभ्युदय और निःश्रेयस का अभिप्राय यह है कि भौतिक उपलब्धियाँ मानव मात्र की मूलभूत आवश्यकता तो हैं किंतु अंतिम नहीं। और जीवन का सत्य केवल मोक्ष में भी निहित नहीं। सत्य का समग्र रूप त्यागपूर्वक भोग "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथः" में है। संस्कृत व्याकरण की दृष्टि से 'अभ्युदय' विशेष अर्थवान् शब्द है। 'अभि' उपसर्ग दोनों ओर (अभितः) के अर्थ में प्रयुक्त होता है। यानि उभयतः उदय- व्यष्टिगत उन्नति एवं समष्टिगत उन्नति। समूह की उपेक्षा कर केवल वैयक्तिक उत्कर्ष की चिंता व्यक्तिवादी चिंतन है। व्यक्ति की उपेक्षा कर केवल सामुदायिक उत्कर्ष की चिंता समाजवादी चिंतन हैं। भारतीय मनीषा दोनों के संतुलित, परस्पराधारित उत्कर्ष को ही वास्तविक उत्कर्ष मानती है। उपनिषद्‌कार ने स्पष्ट शब्दों में एकांगीमार्ग की भर्त्सना एवं उभयमार्ग की सतत अभीप्सा की है। यही हेतु है कि भारतीय चिंतन में भौतिक व आध्यात्मिक, भोग व त्याग, व्यक्तिवाद व समाजवाद, राष्ट्रीय व वैश्विक, जड़ व चेतन, माया व ब्रह्म सभी द्वंद्वों को परस्पर पूरक मानते हुए इन्हें साथ-साथ समायोजित करते रहने पर निरंतर बल दिया गया। पुरुषार्थों में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की गणना इस समतुलित समायोजन का साक्ष्य है। यह महज संयोग नहीं है कि "एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति" की मान्यता के समानांतर ही श्रमण परंपरा के जैनाचार्यों ने "स्याद्वाद" जैसे व्यापक दृष्टि वाले सिद्धांत

की स्थापना की। आचार्य उमा स्वामी द्वारा रचित ग्रंथ 'तत्त्वार्थ सूत्र' जो कि 'मोक्ष शास्त्र' के नाम से प्रसिद्ध है, का सूत्र है- "परस्परोपग्रहो जीवानाम्" (अध्याय 5/21) अर्थात् प्रत्येक जीव एक दूसरे का उपग्रह कर उसका उपकार करते हैं। सृष्टि के संपूर्ण प्राणी एक दूसरे पर निर्भर हैं। निश्चय ही इसके पीछे समग्र भारत की वैश्विक मनीषा कार्यरत थी। हमारे आध्यात्मिक चिंतन की धुरी जिस पर टिकी हुई है वह भगवद्गीता जो सत्य बारंबार दोहराती है, वह है- 'समत्व'। गीता के मत में समत्व ही योग है। विवेकी उन्हीं को कहा गया है जो द्वंद्वों में भी समदृष्टि रखता है।

समीकृत रूप में कहें तो यह समत्व ही भारतीयता का मूलमंत्र है। यह समत्व ही है जो कपाली, भूतेश्वर, श्मशानवासी, औघड़नाथ शिव को त्रैलोक्यमोहिनी, आनंदपूर्णा, अन्नपूर्णा, वात्सलयमयी जगदंबा से जोड़ देता है। यही वह समत्व है जो आदर्श नरपुंगव चैत के उजले दिन की भरी दोपहर में प्रकटने वाले श्री राम को षोडशकलानिधान, लीलाविहारी, मेघाच्छन्न घनांधकरामयी अर्धरात्रि में जन्मने वाला कान्हा बना देता है। निवृत्ति में प्रवृत्ति को, सृष्टि में समष्टि को, समष्टि में व्यष्टि को गूंथ कर उदात्त बना देता है। बाहर से विपरीत और विमुख दिखाई पड़ने वाले तत्व ज्यों-ज्यों गहराई में उतरते हैं एकाकार होते जाते हैं। ऐसा लगने लगता है मानो एक के बिना दूसरे का अस्तित्व ही नहीं है। यही समग्रता, यही वैश्विकता, यही संपूरकता, यही समत्व भारतीयता है।

रवींद्रनाथ ठाकुर के शब्दों में, ष्बहुलता में ऐक्य की उपलब्धि, वैचित्र्य के बीच ऐक्य-स्थापन - यही भारतवर्ष का अंतर्निहित धर्म है। भारत पार्थक्य को विरोध नहीं समझता, परकीय को शत्रु नहीं समझता; बिना किसी का विनाश किए, एक बृहत् व्यवस्था में सभी को स्थान देना चाहता है। सभी पंथों को वह स्वीकार करता है, अपने-अपने स्थान पर प्रत्येक का माहात्म्य वह देख पाता है। (स्वदेशी समाज - रवीन्द्र रचना संचयन, पृष्ठ सं.-755, संपादक : असित कुमार बंद्योपाध्याय, साहित्य अकादेमी प्रकाशन)

"भारतीयता क्यों?" का समुचित उत्तर भी यही दृष्टि है।

आज परस्पर संघर्ष, शोषण और उत्पीड़न के द्वंद्वों से ग्रस्त विश्व को यह भारतीय दृष्टि ही पथदर्शन करा सकती है। इस भारतीय दृष्टि के अभाव के कारण ही हम किसी न किसी वाद, पंथ, दल, गुट या खेमे में बँधकर टुकड़ों में देखते हैं, टुकड़ों में सोचते हैं, टुकड़ों में जीते हैं। विखंडित एवं विच्छृंखलित रूपों से साक्षात्कार हमारी नियति है। हम व्यक्ति होकर सोचते हैं तो समाज को विरोधी मानते हैं। समाज होकर सोचते हैं तो प्रकृति को विरोधी मानते हैं। राष्ट्रीय होकर सोचते हैं तो अंतरराष्ट्रीयता का विरोधी मानते हैं। पुरुष होकर सोचते हैं तो स्त्री को विरोधी मानते हैं। हिंदू होकर सोचते हैं तो मुसलमान को विरोधी मानते हैं। वामपंथी होकर सोचते हैं तो दक्षिणपंथी को विरोध मानते हैं। भोग को सोचते हैं तो त्याग को विरोधी मानते हैं। आधुनिक होकर सोचते हैं तो पुरातन को विरोधी मानते हैं। इन द्वंद्वात्मक संबंधों में भी परस्पर न केवल विरोधी मानते हैं अपितु विरोधी का अस्तित्व मिट जाए ऐसा प्रयत्न भी करते हैं। मानो समूचा विश्व घोर विरोधी तत्त्वों का समुच्चय हो, परस्पर संघर्षमय एक आत्मघाती रणस्थली हो। वस्तुत: यह अभारतीय सोच है। भारतीय चिंतन इन समस्त द्वंद्वों को समग्रता के धरातल पर लाकर परस्पर संवादी-सहगामी बना देता है। वह भारतीयता ही है जो विभिन्न दिशाओं को जाने वाली परस्पर पराङ्मुखी त्रिज्याओं को एक विस्तीर्ण परिधि के आँचल में समेट लेती है और सत्य के सार्वभौमिक स्वरूप का दर्शन कराती हैं।

यद्यपि "भारतीयता क्यों?"- इस प्रश्न के अनेकविध उत्तर हैं। एक उत्तर का उल्लेख हम आलेख के आरम्भ में भारतवर्ष के नामकरण के प्रसंग में कर चुके हैं कि संसार में विद्यमान अधूरेपन और रिक्तता को भरने के लिए भारतीयता की दृष्टि अपरिहार्य है। प्राय: हम "कृण्वन्तो विश्वमार्यम्"- कहकर यह उत्तर देते हैं कि विश्व को श्रेष्ठ बनाने का दायित्व भारत पर है। यद्यपि जब हम विश्व को श्रेष्ठ बनाने की यह संकल्पना दोहराते हैं, तो जाने-अनजाने इसका अधूरा सत्य ही हम व्यक्त करते हैं। वह महत्त्वपूर्ण अंश इसमें छूट जाता है जो वैदिक ऋषि का अभीष्ट हैं। ऋग्वेद की यह ऋचा इस प्रकार है-

"इन्द्रं वर्धनतो अप्तुर: कृण्वन्तो विश्वमार्यम्। अपघ्नन्तो अरव्न:" (ऋग्वेद मंडल 3/ सूक्त 34/9)

इसका तात्पर्य यह है कि हम विश्व में आर्यत्व-(श्रेष्ठता) को स्थापित करने वाले तो हैं, किंतु साथ ही "इन्द्रं वर्धनतो अप्तुर:" अर्थात् इन्द्र को (अपने नेतृत्व को)- सबल, शक्तिसंपन्न करते हुए तथा "अपघ्नन्तो अरव्न:" अर्थात् अराति -दुष्टों, अमानवीय लोगों- को नष्ट करने वाले होकर। यह दोनों स्थितियाँ साथ में अपरिहार्य हैं, तभी जाकर हम संपूर्ण विश्व को श्रेष्ठ बना सकते हैं, श्रेष्ठ बनाने की संकल्पना व्यक्त करते हैं। इस क्रम में हम यह भी स्मरण करते हैं- "या प्रथमा संस्कृति: विश्ववारा" कि विश्व का कल्याण करने हेतु यही प्रथम और प्रधान संस्कृति है। ऐतिहासिक तथ्य एवं पुरातात्विक अध्ययन इसे प्रमाणित भी करते हैं।

किंतु, भारतीयता क्यों? इस प्रश्न का एक उत्तर ब्रिटिश इतिहासकार आर्नोल्ड जोसेफ टॉयनबी के एक कथन में भी मिलता है, जो उन्होंने लगभग आठ दशक पूर्व व्यक्त किया था। इसका उल्लेख डॉ. मोहनराव जी भागवत ने 'मंथन' पत्रिका के 'संघ दृष्टि विशेषांक' (जुलाई-दिसंबर 2021) में किया है,- "It is already becoming clear that a chapter which had a Western beginning will have to have an Indian ending if it is not to end in self-destruction of the human race."

(अर्थात् यद्यपि इस सदी का प्रारंभ यूरोपियन सदी के रूप में हुआ है। इसका समापन भारत की सदी के रूप में होगा, अन्यथा विनाश अटल है।)

आर्नोल्ड टॉयनबी के इस अत्यंत संक्षिप्त किंतु सारगर्भी संदेश की प्रतिध्वनि हमें संपूर्ण विश्व को सुनानी और समझानी होगी, अन्यथा, जैसा कि टॉयनबी कहते हैं, विनाश की ओर द्रुतगति से बढ़ते इस संसार को और कोई नहीं बचा सकता।

प्रो. नंद किशोर पाण्डेय

भारतबोध और भक्ति साहित्य

भारत आध्यात्मिक राष्ट्र है। इस देश का आर्थिक, सामाजिक, राजनैतिक तथा ऐतिहासिक चिंतन भी अध्यात्म केंद्रित है। भारत की सीमाओं, भौगोलिक स्थिति, इतिहास के साधन, सामाजिक अवस्था, राजनीतिक अवस्था, विभिन्न प्रकार के आक्रमणों के प्रभाव का मूल्यांकन, अनेक प्रकार के वंश, शासन प्रबंधन, राज्य और नामकरण, शासक, सेनापति और अमात्य आदि का अध्ययन और विश्लेषण भी अध्यात्म से संपृक्त करके ही किया जा सकता है। किया जाता रहा भी है। भारत के किसी भी क्षेत्र का साहित्यकार किसी भी विषय पर क्यों न लिखे, वह भारतीय धर्म साधना की बात करता ही है। कभी वह रम्य प्रकृति की क्रोड से आराध्य की छवि को निहारता है तो कभी संपूर्णता में उसी की प्रभा की अनुभूति करता है। राज्य और राजा के वर्णन में अच्छे शासक को देखने के लिए सृष्टि निर्माता की न्यायप्रियता का विश्वास उसमें आरोपित करता है। ऐतिहासिक स्थल कवियों की वाणी में भग्न ईंट-पत्थरों के साथ नहीं, साधकों की साधना -स्थली के रूप में स्मृत किए गए हैं।

पाश्चात्य विद्वानों द्वारा भारतीय इतिहास के सर्वाधिक मान्य ग्रंथों में कल्हण की राजतरंगिणी को प्रतिष्ठा प्राप्त है। इसका लेखन काल 1148 से 1149 ई. है। कल्हण ने अपने लेखन के प्रारंभ में ही अनेक भौगोलिक स्थानों की चर्चा भारतीय ध र्म साधना के मूर्त स्वरूप के साथ की है। कश्मीर में अनेक उपासना पद्धतियों का प्रारंभ से ही सम्मान रहा है लेकिन शिवोपासना प्रमुख रही है। राजतरंगिणी में भगवान बुद्ध और उनकी उपासना को श्रद्धा के साथ वर्णित किया गया है। राजतरंगिण ी का मंगलाचरण शिव से संबंधित है। प्रथम तरंग के 30,31,32 श्लोक में कश्मीर मंडल की समृद्धि, सुषमा तथा काष्ठस्वरूप उमापति के दर्शन का वर्णन है। सामान्य पाठक को एक आस्तिक शिवभक्त की श्रद्धा का प्रकटीकरण लगता है। जब इस भक्ति को भारतबोध से जोड़ते हैं तब प्रतीत होता है कि कल्हण कैसे सांस्कृतिक भारत को कोटेश्वर कुंड के जल के साथ पावित्र्यबोध कराते हुए भारत की भावात्मक एकता को मजबूत कर रहे थे। कल्हण बतलाते हैं कि विभिन्न रत्न भांडों से विभूषित शंख पद्मादि नागों का कश्मीर मंडल कुबेरपुरी तुल्य आश्रय स्थान है। कश्मीर मंडल की प्राकार स्वरूप पर्वतमालाएँ देख ऐसा लगता है जैसे वे गरुण द्वारा ताड़ित शरणागत नागों की रक्षा कर रही हैं।पापसूदन तीर्थ में काष्ठस्वरूप उमापति के दर्शन एवं स्पर्श द्वारा भोग और मोक्ष दोनों फलों की प्राप्ति होती है। श्लोक है-

भुक्तिमुक्तिफलप्राप्तिः काष्ठरूपमुमापतिम् ।
पापसूदनतीर्थान्तिर्यत्र संस्पृशतां भवेत्।।

इन श्लोकों के भाष्यकार रघुनाथ सिंह ने लिखा है, "शिव ने (वशिष्ठ) को वर दिया, उसी के फलस्वरूप कपटेश्वर में जल पूर्ण रहता है और काष्ठ रूप में भगवान प्रकट होते रहते हैं। मालव राजा भोज ने पुष्कल धन व्यय कर कपटेश्वर कुंड का निर्माण करवाया था। राजा यहाँ के पवित्र जल द्वारा नित्य मार्जन करते थे। उनकी यह प्रतिज्ञा थी। काँच कलश में कपटेश्वर का जल प्रतिदिन कश्मीर से मालवा भेजा जाता था। तत्कालीन कुंड निर्माण के भग्न विशाल शिलाखंड यत्र-तत्र पड़े हैं।"[1]

पूर्वोत्तर भारत की संस्कृति, साहित्य और भूगोल को समझने के लिए 'कालिकापुराण' से महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। इस ग्रंथ का उपयोग रचनात्मक लेखन में परवर्ती कवियों ने किया है। श्कालिका पुराणश की सामग्री वृहत्तर

भारतीय चिंतन का मूल अध्यात्म है। यही कारण है कि भक्तिकाल की रचनाधारा ने अपने समसायिक और परवर्ती चिंतन को बहुत प्रभावित किया। इस प्रभाव का एक निरूपण

भारत की भावधारा को अपने कथा प्रसंगों तथा स्थान नामों के साथ संपृक्त करती है। हजारों वर्ष पूर्व भारत की नदियों के जो नाम थे, उनमें से अनेक के नाम परिवर्तित हो गए हैं। कुछ स्थान नामों में भी बदलाव आया है। कुछ स्थानों के नाम अपभ्रंश रूप में वयवहृत होते हैं या स्थानीय नाम स्वीकृत हो गए हैं। इस पुराण में परशुराम कुंड की और लोहित नदी की चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है। आज परशुराम कुंड अरुणाचल प्रदेश में लोहित नदी के तट पर है। उस क्षेत्र में 'मिशमी' जनजाति निवास करती है। मिशमी तीन प्रकार के हैं -ईदू मिशमी, मिजी मिशमी और दिगारू मिशमी। इन जनजातियों के लोक साहित्य में भी परशुराम की कथा अलग-अलग प्रकार से प्राप्त होती है। कालिका पुराण की कथा ने परशुराम कुंड की महिमा को जन-जन तक पहुँचाया। भारतीय मानस ने इस कथा को धार्मिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक मानकर इसे अंगीकार किया। परशुराम कुंड आज एक पूज्य तीर्थस्थान के रूप में स्थापित है। यद्यपि इस कुंड का प्राचीन स्वरूप 1950 के भूकंप में समाप्त हो गया। नदी के किनारे उसी स्थान पर एक पत्थर की आकृति को परशुराम का फरसा स्वीकार कर पूजा जाता है तथा उस स्थान पर स्नान कर पुण्य लाभ अर्जित किया जाता है। आज परशुराम कुंड के ऊपर पहाड़ी पर भव्य मंदिर और गोशाला है। अनेक महात्माओं की तपस्थली है। लोहित नदी को ब्रह्मा का पुत्र कहा गया है। 'कालिकापुराण' के 'काम रूपमहात्म्यवर्णनम्' अध्याय में कहा गया है:

सर्वानदीः समाप्लाव्य सर्वतीर्थानि सर्वतः।
लौहित्यो ब्रह्मणः पुत्रो याति दक्षिणसागरम्।।[2]

(सभी नदियों को तथा सभी तीर्थों को अपने में भली-भांति समाहित कर, ब्रह्मा का पुत्र, लौहित्य नामक नद,आज भी दक्षिण सागर में जाता है। यह लौहित्य नद आज अरुणाचल प्रदेश में लोहित तथा असम में ब्रह्मपुत्र नाम से जाना जाता है। आज भी अरुणाचल प्रदेश तथा असम में बच्चों का लोहित नाम श्रद्धा और पवित्रता के साथ रखा जाता है। कामरूप के सौंदर्य और इतिहास का वर्णन असम की भक्ति कविता में दिखलाई पड़ता है। वह इतिहास और सौंदर्यबोध भारत का है। सभी पौराणिक कथाएँ जो संस्कृत से होते हुए असमिया

सभी नदियों को तथा सभी तीर्थों को अपने में भली-भांति समाहित कर, ब्रह्मा का पुत्र, लौहित्य नामक नद, आज भी दक्षिण सागर में जाता है। यह लौहित्य नद आज अरुणाचल प्रदेश में लोहित तथा असम में ब्रह्मपुत्र नाम से जाना जाता है। आज भी अरुणाचल प्रदेश तथा असम में बच्चों का लोहित नाम श्रद्धा और पवित्रता के साथ रखा जाता है। कामरूप के सौंदर्य और इतिहास का वर्णन असम की भक्ति कविता में दिखलाई पड़ता है। वह इतिहास और सौंदर्यबोध भारत का है। सभी पौराणिक कथाएँ जो संस्कृत से होते हुए असमिया साहित्य में आई हैं, वे भारतबोध की संपूर्णता में प्रस्तुति हैं। कालिकापुराण के नदियों और पहाड़ों के संदर्भ से अनेक कविताएँ लिखी गई

साहित्य में आई हैं, वे भारतबोध की संपूर्णता में प्रस्तुति हैं। कालिकापुराण के नदियों और पहाड़ों के संदर्भ से अनेक कविताएँ लिखी गई।

महापुरुष शंकरदेव से पहले अनेक कवियों ने वैष्णव भक्ति की रचनाएँ लिखीं। इस दृष्टि से हेम सरस्वती, कविरत्न सरस्वती, हरिबर विप्र, रुद्र कंदलि तथा माधव कंदलि का नाम उल्लेखनीय है। असम के विष्णुदास की रचनाओं का प्रभाव परवर्ती असमिया तथा हिंदी कविता पर देखा जा सकता है। प्रो. कृष्णनारायण प्रसाद 'मागध' इन्हें ब्रजी, ब्रजबुलि और ब्रजावली का प्रथम कवि मानते हैं।

महापुरुष शंकरदेव ने महाभारत, रामायण और श्रीमद्भागवत के आधार पर रचनाएँ लिखीं। इनकी कई कृतियाँ पुराणों के आधार पर लिखी गई हैं। इन्होंने पुराणों का गहन अध्ययन किया था। इनकी प्रमुख रचनाएँ हैं: हरिश्चंद्र- उपाख्यान, रुक्मिणी हरण (काव्य), कीर्तन घोषा, बरगीत, भक्ति प्रदीप, भक्ति रत्नाकर, गुणमाला, महाभागवत, तोटय और भाटिमा, उत्तरकांड (रामायण), पत्नी -प्रसाद, रुक्मिणी हरण (नाट), केलि गोपाल, कालि-दमन, पारिजात-हरण और राम-विजय। इन रचनाओं के माध्यम से शंकरदेव वृहत्तर असम क्षेत्र में भारत भाव का जागरण कर रहे थे। उन्होंने नाटक के क्षेत्र में कई प्रयोग किए। विपरीत कालखंड में उन्होंने असमिया तथा ब्रजबुलि के माध्यम से भारतीय तत्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाया। वे वैदिक तथा औपनिषदिक मंत्रों को नाटकों तथा भक्तिगीतों के माध्यम से सरलीकृत करके प्रस्तुत कर रहे थे। शंकरदेव ईश्वर को निराकार, निरंजन, गुणातीत, अव्यक्त, सर्वव्यापक, अंतर्यामी बतलाते हैं। वे यह भी स्वीकार करते हैं कि निर्गुण की उपासना कठिन है इसलिए सगुण साकार रूप की उपासना स्वीकार करते हैं। हिंदी कवियों में सूरदास, तुलसीदास आदि ने भी सगुण उपासना और अवतारी भगवान को अपना आराध्य बनाया। सूरदास की समस्या थी कि 'निरालंब कित ध्यावों'। तुलसीदास निर्गुण-सगुण में भेद नहीं मानते। भक्तों के लिए निर्गुण ब्रह्म सगुण स्वरूप धारण रहता है। शंकरदेव कहते हैं:

निश्चल निर्मल रूप सूक्ष्म यिटो स्वामी,
देवे न जानन्त ताकं केने जानो आमि।
अपर तोमार रूप जात भुज चारि,
पती वस्त्रे शोभे शंख चक्र गदा धारी।
सेहिसे मूर्त्तिक आराधन्ते देवगणे,
ताकेसे भकत सबे चिन्ते सर्वक्षणे।।[3]

शंकरदेव ने तत्कालीन समाज को संपूर्ण भारत के साथ जोड़ने के लिए जिस भक्ति पद्धति को विकसित किया वहाँ छुआछूत रंचमात्र भी नहीं है। कृष्ण और राम के माध्यम से समाज को एकीकृत किया। उसके लिए लोकप्रिय नाट्य पद्धति को अपनाया। गायन-वादन प्रमुख रूप से स्थापित हुआ। नाटकों में अनेक प्रयोग किए। इस भक्ति में वृंदावन, गोकुल, मथुरा जीवंत हो उठा। उसके रज की कामना ने परंपरा के सूत्रों को मजबूत किया। भाषा की दिवारों को तोड़ा। ब्रजबुलि की सहजता जन-जन का कंठहार बन गई। शंकरदेव ने अपने तप से स्थापित किया कि

श्रीकृष्ण की भक्ति सभी को लौकिक तथा पारलौकिक सुख प्रदान करती है। यह भक्ति जाति -धर्म नहीं देखती:

किरात, कछारी, खासी, गारो, मीरी, यवन कंक, गोवाल।
असम मुलुक, रजक, तुरुक, कवँछा, म्लेंछ, चंडाल।।
आन पापी नर कृस्न सेवा कर पवित्र हय।
भक्ति लभिया, संसार तरिया, बैकुंठ सुखे चलय।।[4]

शंकरदेव की भक्ति ने अनेक जनजातियों को कृष्ण और राम भक्ति प्रवाह में समाहित किया। शंकरदेव ने जिस 'एकशरण' धर्म का प्रवर्तन किया वह सनातन परंपरा के भीतर दार्शनिक तत्त्वज्ञान का लोकभाषा में श्रेष्ठ प्रयोग था जिसने विशृंखलित समाज को भक्ति और संघर्ष की शक्ति दी। दैनंदिन पारिवारिक, सामाजिक समस्याओं को सुलझाने के लिए एक सुंदर स्थान दिया। 'नामघर' की कल्पना और उसका अनुप्रयोग सुंदर, सात्विक जीवन का सनातन के भीतर शाश्वत आधार बना। माधवदेव ने महापुरुष शंकरदेव की भक्ति पद्धति को सुदृढ़ आधार दिया और उसे और व्यापक बनाया।

तमिल भाषा का प्राचीनतम उपलब्ध साहित्य 'संगम साहित्य' है। इस साहित्य में जहाँ एक भक्त के द्वारा दूसरे भक्त को आध्यात्मिक अनुभवों को सुनाया गया है, वहीं चोल साम्राज्य की समृद्धि का वर्णन है। कावेरी नदी के जल ने राज्य की कृषि को बढ़ावा दिया है। औद्योगिक दृष्टि से राज्य संपन्न है। चोल राजा विवेक संपन्न है। यह ग्रंथ दक्षिण भारत के इतिहास और संस्कृति को समझने के लिए आधारभूत सामग्री उपलब्ध कराता है। तमिल साहित्य की उत्कृष्ट कृति तिरुवल्लुवर की 'तिरुक्कुरल' है। इसमें तीन भागों में विभाजित 1330 दोहे हैं। इसके तीन खंड हैं: 1.सदाचार 2.राज्य और नागरिकता तथा 3.प्रेम। इसमें जीवन के विविध रंग संगुंफित हैं। तमिल भक्ति साहित्य की दृष्टि से शैव मत के चार आचार्यों को 'नायनमार' कहा जाता है। ये चार आचार्य हैं: तिरुज्ञानसंबंधर, तिरुनावक्करसर, सुंदर और मणिक्यवाचगर। बारह आलवार संत हैं। ये वैष्णव थे। ये संत भ्रमणशील थे। एक मंदिर से दूसरे मंदिरों की यात्रा किया करते थे। धर्म को ईश्वर के प्रति अनुराग के रूप में स्थापित कर हजारों की संख्या में इन्होंने रचनाएँ की। तिरुज्ञानसंबंधर की तिरुमुरैयों में तीन हजार छंद संगृहीत हैं। इनका समय सातवीं शताब्दी है। महेंद्र वर्मन प्रथम के समय के प्रमख संत तिरुना वक्करसर के भी तीन हजार छंद अन्य तीन तिरुमुरैयों में संगृहीत हैं। 'पेरियपुराणम्' में तिरसठ भक्तों की जीवनी दी गई है। इसके रचनाकार सेक्किलार हैं। चार हजार वैष्णव छंदों के संग्रह का नाम 'नालायिरप्रबंधम्' है। आलवारों ने विपुल साहित्य लिखा। बारह आलवारों में सबसे अधिक रचना तिरुमंगै आलावार और नम्मालवार ने की। आलवारों की भक्ति पद्धति से उत्तर और पश्चिम भारत की भक्ति प्रभावित हुई। कंबन ने वाल्मीकि रामायण की कथा को आधार बनाकर 'कंब रामायण' की रचना की।

आलवारों में भक्त नम्मालवार वर्ण-व्यवस्था के अनुसार शूद्र जाति के थे। ये शठकोपाचार्य के नाम से विख्यात हैं। नम्मालवार के महत्त्व को डॉ. कृष्ण गोपाल ने स्थापित करते हुए लिखा है, "भक्त नम्मालवार को तमिल साहित्य में दिव्यकवि कहते हैं। कहा जाता है कि ऋषि कंबन द्वारा रचित 'रामायणम्' को भगवान श्री रंगनाथ ने तभी स्वीकार किया जब उन्होंने भक्तश्रेष्ठ नम्मालवार की प्रशंसा में 'शठकोपरन्तादि' की रचना की। ये तमिल वेद प्रणेता तथा तमिल वेद व्यास नाम से भी प्रसिद्ध हो गए। भक्त नम्मालवार की रचनाएँ 'द्रविड़ वेद सागर' के नाम से प्रसिद्ध हैं।"[5] मधुर कवि आलवार ब्राह्मण कुल में जन्म लिए थे। उन्होंने शूद्र कुल में उत्पन्न नम्मालवार का शिष्यत्व ग्रहण किया। इन आलवारों में भक्त कवयित्री आंडाल भी थीं। इन्हें गोदा नाम से भी जानते हैं। ये पेरियालवार (विष्णुचित्त) की कन्या थीं। आंडाल ने श्री रंगनाथ जी को ही पति रूप में स्वीकार कर लिया था। भक्त तिरुप्पाण आलवार

(मुनिवाहन) भी शूद्र थे। भक्त तिरुमंगै आलवार (परकाल) कल्लर जाति के थे। यह जाति जंगलों में रहती थी। 'नालायिर दिव्य प्रबंधम्' में सर्वाधिक रचनाएँ परकाल आलावार की ही संगृहीत हैं। आलवारों की परंपरा में ही रामानुजाचार्य आते हैं। श्री पेरिय नांबी (महापूर्ण) इनके गुरु थे। 'नालायिर प्रबंधम्' (तमिल वेद) का अध्ययन रामानुजाचार्य ने इनसे किया था। ये निम्न जाति के थे। रामानुजाचार्य के अन्य गुरु श्री तिरुक्कोटियुर नांबी (गोष्ठिपूर्ण) भी शूद्र थे। महापूर्ण ने ही वैष्णव भक्ति को हृदयंगम करने के लिए गोष्ठिपूर्ण के पास उन्हें भेजा था। रामानुजाचार्य को 'नमो नारायणाय' का मंत्र देने वाले गुरु गोष्ठिपूर्ण थे। रामानुजाचार्य ने अनेक ग्रंथों की रचना की। व्यापक भ्रमण कर भक्ति चेतना का प्रचार किया। संस्कृत के आर्ष ग्रंथों की व्याख्या कर उसके तत्त्वज्ञान को जन-जन तक पहुँचाया। आलवारों के 'प्रबंधम्' को रामानुजाचार्य ने वैष्णव भक्ति के आधारभूत सामग्री के रूप में स्वीकार कर उसे प्रतिष्ठित किया।

यह भक्ति रामानंद के साथ उत्तर भारत में पल्लवित-पुष्पित हुई। रामानंदाचार्य की भक्ति में स्त्री-पुरुष का भेद तिरोहित हो गया। सभी जाति-वर्णों के लोगों को रामानंद ने स्वयं शिष्य बनाया। इस पद्धति का पालन परवर्ती संत संप्रदायों ने भी किया। आचार्यों के लेखन और भ्रमण ने वृहद भारतीय परंपरा में आए दोषों को निकालकर सांस्कृतिक प्रवाह का परिष्कार किया। भारतीयता के बोध को जन-जन तक पहुँचाया। इस बात को स्थापित किया कि परंपरा का अर्थ जड़ता नहीं है। उसमें अनवरत परिष्कार की संभावना विद्यमान रहती है। वह निरंतर प्रवाहित होते रहने वाला अविरल जीवन-प्रवाह है। भारत बोध का संस्कार इन कवियों ने शास्त्रज्ञान के साथ नदी, पहाड़,फल-फूल, पत्ते, तृण, अन्न-जल, ग्रह-नक्षत्र के साथ जोड़कर भी दिया।

आचार्य यह समझाने में सफल रहे हैं कि भारत के किसी भी छोर का पवित्र स्थान सबका है,सबके लिए है। उपासना के मंत्र, आरती और स्तुति के पद विभिन्न भाषाओं में लिखे गए। उनकी गायन -वादन की पद्धति में विभिन्नता तथा भाषा की समझ का नं होना भी उसका पावनता और शाश्वतता के बोध को कम नहीं कर पाया। संतत्व की शुद्धता और आचार्य की महनीयता के साथ उसके मुख से निकली वाणी भी पावन और गरिमामय बनकर प्रतिष्ठित तथा संप्रेषित हुई। मंत्र का उच्चारण किसी भी भाषा में हो श्रवण को पवित्र करते हुए पूरे शरीर पर प्रभाव डालता है। उच्चारणकर्ता की वाणी को भी शुद्ध बनाता है। निरंतर उच्चारण

और श्रवण स्वयं के साथ ही वातावरण को परिशुद्ध करता है।

आचार्यों का बोध आम जन तक पहुँचा। उसकी गुंजार ने भृंगी का कार्य किया। निरंतर गुंजार से जैसे भृंगी के बच्चे उसी ध्वनि में गाने लगते हैं वैसी ही अनुगूँज संपूर्ण भारत में होने लगी। स्वत्व की अनुभूति ने अपने स्थान और मिट्टी से प्रेम करना सिखलाया। जो पुस्तकें भक्ति की दृष्टि से नहीं लिखी गई उनमें भी राष्ट्रीयता और स्वत्व की अनुभूति अनुगुंजित हुई। पुरानी हिंदी के प्रसिद्ध कवि अब्दुल रहमान हैं। उनकी कृति 'संदेश रासक' है। इसका रचना समय 11वीं शताब्दी है। इसकी कथा तीन स्थानों को जोड़ती है। नायिका विजयनगर, जैसलमेर की है। उसका पति खंभात में काम करता है। पथिक सांबपुर, मूलस्थान का है। वह विजयनगर से होकर खंभात जा रहा है। नायिका उससे इतना ही पूछती है कि तुम कहाँ से आ रहे हो और कहाँ जा रहे हो? इसके उत्तर में पथिक अपने नगर का वर्णन विस्तारपूर्वक पूरे गर्व के साथ करता है। वह कहता है कि मेरे नगर का नाम सांबपुर है। वहाँ मनोहर प्राकृत छंद सुनाई देते हैं। वहाँ चारों वेदों के ज्ञाता वेद की व्याख्या करते हैं। वहाँ नलचरित और महाभारत की कथाएँ पढ़ी जाती हैं। वहाँ नट रामायण का अभिनय करते हैं। कुछ लोग वंशी, वीणा, काहिल और मुरज सुनते हैं। वहाँ के उद्यानों में विभिन्न प्रकार के वृक्ष हैं। यहाँ पर कवि ने लगभग सवा सौ वृक्षों और पौधों की सूची दी है। इसमें बहुत सी आयुर्वेदिक औषधियों के नाम हैं। सबसे बड़ी बात अब्दुल रहमान कहते हैं कि सांबपुर धवल तुंग प्राकारों से मंडित है। वहाँ कोई मूर्ख नहीं दिखता। सभी पंडित हैं। वहाँ त्यागी ब्राह्मण आशीर्वाद देते हैं। यह है 11वीं सदी के भारत का एक नगर! इसकी प्रशंसा गर्व के साथ हिंदी के पहले मुस्लिम कवि ने किया है। भारत के इस सौंदर्य और समृद्धि को प्राचीन भक्ति कविता में देख सकते हैं। बाद का भारत आक्रमणों और लूट का शिकार बना। वहाँ कवि साहस देता है। तुलसीदास की कविता पूरे सामर्थ्य और स्वाभिमान के साथ स्वधर्म निरत रहकर जीने की सीख देती है। प्रभु के आलावा न कोई किसी से कुछ छीन सकता है और न दे सकता है। वे कवितावली में कहते हैं,

"को भरिहै हरि के रितये, रितवै पुनि को, हरि जौं भरिहै।
उथपै तेहि को जेहि राम थपै, थपिहै तेहिं को हरि जो टरिहै।।
तुलसी यह जानि हिये अपने सपने नहिं कालहूं ते डरिहै।
कुमया कछु हानि न औरन की जोपै जानकीनाथ मया करिहै।।[6]

अनेक प्रकार की विषम परिस्थितियों में संतों की इस प्रकार की रचनाओं ने दमित, पीड़ित, शोषित हिंदू जनता को लंबे समय तक चले मुस्लिम शासन में जीवन जीने की सामर्थ्य दी। इस प्रकार की कविताएँ स्वाभिमानी जीवन की रचना कर रही थीं, वहीं दूसरी तरफ प्रत्येक विपरीत परिस्थिति में भारत को पूरी ताकत के साथ खड़े रहने के लिए बल का सृजन कर रही थीं। यह आकस्मिक नहीं है कि कुंभनदास फतेहपुर सीकरी को चुनौती दे रहे हैं। एक भजन ही तो उन्हें सुनाना था। लेकिन उस शासक को नहीं सुना सकते थे जो आततायी, निरंकुश, हिंसक, लुटेरा, मूर्तिभंजक और दूसरे की उपासना पद्धति के प्रति घृणा रखने वाला है। गीत-संगीत तो बहुत दूर की बात है, दुख इसका है कि जिसका मुख देखने से पाप लगता है उसे प्रणाम करना पड़ाः

संतन को कहा सीकरी सो काम
आवत जात पनहियाँ टूटी, बिसरि गयो हरिनाम।
जाकौ मुख देखें दुख लागै, ताकौं करन परी परनाम।
कुम्भनदास लाल गिरधर बिनु, यह सब झूठौ धाम।।

भारतबोध को जगाने और सुरक्षित रखने के लिए कर्नाटक के श्री अल्लम प्रभु, बसवेश्वर, अक्क महादेवी, संत पुरंदरदास, संत कनकदास ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जागरण किया। संत बसवेश्वर ने श्अनुभव मंडपश नाम से एक सुचिंतित व्यवस्था खड़ी की। प्रत्येक जाति के सच्चरित्र व्यक्ति का उसमें प्रवेश था। अनेक जातियों और पेशे से जुड़े हुए लोग अनभव मंडप के साथ जुड़े। बसवेश्वर ने शारीरिक श्रम की महत्ता को स्थापित करते हुए आजीविका के लिए सभी प्रकार के कार्यों को सात्विक ढंग से करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने शारीरिक श्रम को कैलास कहा। उसे ईश्वर की आराध ना माना। बसवेश्वर ने अपनत्व के संदेश को प्रचारित किया। 'अनुभव मंडप' से जुड़ी हुई अक्क महादेवी कन्नड़ साहित्य की महान कवयित्री हैं। वे शिवोपासक थीं। वे अपने आराध्य 'चेन्नमल्लिकार्जुन' को अपनी रचनाओं में ढूंढ़ती रहीं। आध्यात्मिक साधना हेतु श्रीशैलम् आई और अपने आराध्य प्रियतम के विग्रह के साथ एकरूप हो गईं। समरस जीवन का संदेश देने वाले सहस्रों सुभाषितों को रचा। माध्वाचार्य स्वामी संन्यासी बनकर श्री विद्यारण्य स्वामी हो गए। मलिक काफूर के विध्वंस से दुखी माधवाचार्य ने कर्नाटक में नई व्यवस्था प्रारंभ की। कभी मोहम्मद बिन तुगलक द्वारा धर्मांतरित करने के बाद इस्लाम को ग्रहण कर चुके हक्क और बुक्क को पुनः हिंदू बना लिया और उनका नाम हरिहर राय और बुक्क राय रखा। इन दोनों ने तरुणों का संगठन बनाकर सैन्य तथा सामाजिक दृष्टि से राष्ट्र की आवश्यकतानुसार बड़ा काम किया।

भारतबोध को जगाने और सुरक्षित रखने के लिए कर्नाटक के श्री अल्लम प्रभु, बसवेश्वर, अक्क महादेवी, संत पुरंदरदास, संत कनकदास ने अपनी रचनाओं के माध्यम से जागरण किया। संत बसवेश्वर ने श्अनुभव मंडपश नाम से एक सुचिंतित व्यवस्था खड़ी की। प्रत्येक जाति के सच्चरित्र व्यक्ति का उसमें प्रवेश था। अनेक जातियों और पेशे से जुड़े हुए लोग अनभव मंडप के साथ जुड़े। बसवेश्वर ने शारीरिक श्रम की महत्ता को स्थापित करते हुए आजीविका के लिए सभी प्रकार के कार्यों को सात्विक ढंग से करने के लिए प्रेरित किया। उन्होंने शारीरिक श्रम को कैलास कहा। उसे ईश्वर की आराधना माना

मध्वाचार्य द्वैत मत के प्रतिष्ठापक आचार्य थे। इनका जन्म उडुपि के पास हुआ था। इन्होंने अनेक ग्रंथों का भाष्य लिखा। इनकी परंपरा में दासकूट परंपरा प्रचलित हुई। इस परंपरा के भक्त हरिदास कहलाए। 13वीं शताब्दी से 15वीं शताब्दी तक हरिदासों ने कर्नाटक में भक्ति की दृष्टि से सामाजिक समरसता के लिए कार्य किया। बाद में यह दासपंथ के नाम से प्रचलित हुआ। इस पंथ में अनेक कवि हुए। इस पंथ के कवियों ने हजारों भजनों की रचना की। ईश्वर तथा जीव की अभेदता को स्थापित करने वाले हजारों व्यावहारिक उदाहरणों से युक्त कीर्तनों ने विषमता से उठाकर समरसता के आसन पर समाज को बैठाया।

महाराष्ट्र की भक्ति परंपरा में संत पंचायतन महत्त्वपूर्ण है। पंचायतन के प्रमुख पांच संत हैं: ज्ञानदेव, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम तथा समर्थ गुरु रामदास। संत नामदेव जाति से शिंपी थे। संत ज्ञानेश्वर आदिनाथ की परंपरा से स्वयं को जोड़ते हैं। इस परंपरा में ज्ञानेश्वर से पहले निवृत्ति नाथ हैं। ज्ञानेश्वर ब्राह्मण थे। महाराष्ट्र की भक्ति परंपरा के अनेक जाति-वर्णों के संतों ने भारत को समझाने के लिए पाँच सौ वर्षों तक अलख जगाई। वारकरी संतों की परंपरा आज भी उसी विधि विधान से प्रचलित है। पंढरपुर में विराजित विट्ठल ने सर्वसमाज को आकर्षित किया। सगुण-निर्गुण एकरूप हो गए। भारतीय समाज को सिद्धांत और व्यवहार के धरातल पर संत पंचायतन के अतिरिक्त बिसोवा खेचर, सोपानदेव, मुक्ताबाई, चोखामेला, सावतामाली, गोरा कुंभार, राका महार, नरहरि सुनार, जनाबाई, बहिणाबाई, कान्होपात्रा, भानुदास आदि ने प्रबोधित किया। इनके कार्यो ने भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्ष को रखा। अनेक कारणों से उपेक्षित जनता को इनका साहचर्य पाकर राहत की साँस मिली।

ओड़िशा के संत सारलादास ने स्वयं को 'शूद्रमुनि' कहा है। उन्होंने 'ओड़िआ महाभारत' लिखा। उनकी अन्य रचनाएँ 'विलंका रामायण' और 'चंडी पुराण' है। कृषक सारलादास ने महाभारत को अपने ढंग से जनता को सुलभ कराया। दासिया बाउरी जगन्नाथ के भक्त थे। वे हरिजन थे। किसी के माध्यम से भगवान जगन्नाथ को नारियल अर्पित करने के लिए भेजा । भगवान ने हाथ बढ़ाकर उसे ग्रहण कर लिया।आज भी किसी के घर में नारियल फलता है तो दासिया बाउरी की स्मृति में भगवान जगन्नाथ को अर्पित किया जाता है। 15वीं-16वीं शताब्दी में ओड़िशा के पंचसखा संतों ने समाज जागरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। भक्त बलराम दास के 'जगमोहन रामायण' को बहुत प्रसिद्धि और प्रतिष्ठा मिली।

भक्ति कविता में भारतबोध को संत सिपाहियों ने शास्त्र और शस्त्र दोनों के माध्यम से अक्षुण्ण रखा। संत योद्धाओं की लंबी परंपरा है। दादूपंथ में बड़े सुंदरदास ने नागापंथ की स्थापना की। धर्म और संस्कृति की रक्षा के लिए नागाओं ने अनेक लड़ाइयाँ लड़ीं। इतिहास में सतनामी विद्रोह प्रसिद्ध है। जोगीदास धौलपुर नरेश के साथ दाराशिकोह की ओर से औरंगजेब के विरुद्ध लड़े। सतनामी विद्रोह के प्रभाव को बतलाते हुए संत साहित्य के प्रतिष्ठित विद्वान आचार्य परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है, ष्जनता में उन दिनों सतनामियों के विषय में अनेक प्रकार की धारणाएँ प्रचलित होने लगी थीं और लोग इनकी विजय को ईश्वरीय विधान मानने लगे थे। खफी खां के अनुसार मामूली तलवारें इन सतनामियों को काट नहीं सकती थीं और न वाण या बंदूक की गोलियाँ ही इनका कुछ बिगाड़ पाती थीं। इनका निशाना कभी न चूकता था और इनकी स्त्रियाँ तक काले घोड़ों पर चढ़कर संग्राम करती थीं।"[7]

भक्ति साहित्य ने जिस भारतबोध को स्थापित किया है उसे अच्छी तरह से समझने के लिए पंजाब के सिख गुरुओं के इतिहास को बरीकी से साहित्य और इतिहास के संदर्भ से भक्ति चेतना के साथ पढ़ना होगा। गुजरात के अनेक सतों ने गुजराती और हिंदी दोनों भाषाओं में लिखा। संत नरसी मेहता, भक्ति निधि लीरलबाई, संत पद्मनाभ, संत मांडण, संत अखा, संत मेकरण दास, स्वामी सहजानंद, स्वामी मुक्तानंद आदि के साहित्य में भारतबोध की प्रतिष्ठा को देख सकते हैं। संत कवि मेकरण दास शूरवीर और संत को जनसेवा के लिए प्रेरित करते हुए लिखते हैं:

शूरवीर अरु संत को वन में नहीं रहना।
जनसेवा के साथ में राम भजन करना।

हिंदी भक्ति परंपरा में अधिकांश निर्गुण संतों ने श्रमजीवी साधुता को अपनाया। कृषि कर्म से लेकर जूता बनाने तक का काम किया लेकिन मधुकरी से पेट नहीं भरा। गुरुकुल पद्धति में आचार्य कृषिकर्म को भी संचालित करते थे, गोपालन भी करते थे तथा अध्यापन भी। मध्यकालीन संतों ने दो कदम आगे बढ़कर कर्म को निश्चित ढाँचे से निकालकर अपने परंपरागत पुश्तैनी कार्य को करने में कहीं हीनता बोध की अनुभूति नहीं की। इसके कारण भी ये स्वाभिमानी बने रहे। करघे के ताने-बाने के साथ जीवन-मरण के बीच की कविता साड़ी की तरह बुनी गई। रांपी से केवल जूता बनाने के लिए चमड़ा नहीं काटा जा रहा था। वहाँ बंधनों को काटकर मुक्त किया जा रहा था। यह आकस्मिक नहीं है कि संत अजपाजप जपने की बात कर रहे थे। समस्त कर्मो का संपादन करते हुए श्वास-प्रश्वास के साथ सोऽहं-सोऽहं का जप चलता रहता था। भारतबोध की कविता को बड़ी मात्रा में मुस्लिम संतों ने लिखा। इस दृष्टि से कबीर, रहीम, रसखान, दरिया साहब, ताज बीबी, रज्जब, वषना, वाजिंद, बाबा फरीद, भक्त कारे बेग, भक्त साल वेग, जायसी, दारा शिकोह आदि को बार-बार पढ़ा जाना चाहिए।

संदर्भ-

1. राजतरंगिणी -कल्हण, भाष्यकार -डॉ. रघुनाथ सिंह, हिंदी प्रचारक संस्थान, वाराणसी।
2. कालिका पुराण -आचार्य मृत्युंजय त्रिपाठी, पृ. 1066, नवशक्ति प्रकाशन, चौकाघाट, वाराणसी
3. शंकरदेव साहित्यकार और विचारक, डॉ. कृष्ण नारायण प्रसाद 'मागध', पृ.117, पंजाबी यूनिवर्सिटी, पटियाला
4. महापुरुष शंकरदेव-ब्रजबुलिग्रंथावलि, पृ.15, डॉ. लक्ष्मी शंकर गुप्त (सं), हिदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग
5. भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता, कृष्णगोपाल, पृ. 436, मध्यप्रदेश हिंदी ग्रंथ अकादमी, भोपाल
6. कवितावली, तुलसीदास, गीता प्रेस, गोरखपुर
7. उत्तरी भारत की संत परंपरा, आचार्य परशुराम चतुर्वेदी, पृ. 383, साहित्य भवन प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद

अर्थायाम: विश्व कल्याण की अर्थ दृष्टि

डॉ. महेश कौशिक

पश्चिम आज जिस सतत विकास की बात कर रहा है, भारतीय अर्थदृष्टि का प्राचीन काल से ही वही मूल है। एक तुलनात्मक अध्ययन

लोगों के जीवन स्तर में सुधार करना आर्थिक विकास के अंतिम लक्ष्य के रूप में स्वीकार किया गया है, क्योंकि मनुष्य ने अधिकतम सुख प्राप्ति को अपने जीवन का अंतिम लक्ष्य बना लिया है। जिसके लिए वह जीवन भर यथासंभव प्रयत्न करता रहता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए समय-समय पर भिन्न-भिन्न प्रकार के आर्थिक विचार विकसित हुए। पश्चिम में जहाँ केवल भौतिक वस्तुओं से प्राप्त सुख को ही महत्त्व दिया गया, भारतीय ज्ञान परंपरा में भौतिक सुख से आगे जाकर आत्मिक आनंद तक की प्राप्ति के मार्ग भी खोजे गए। पश्चिम में 'अर्थ' से संबंधित दो महत्त्वपूर्ण विचार 'पूँजीवाद' तथा 'समाजवाद' का विकास हुआ। दोनों प्रकार की व्यवस्थाओं ने पिछली तीन सदियों में उत्कर्ष देखा किंतु विश्व ने दोनों व्यवस्थाओं की सीमाओं को भी देखा। आज प्राकृतिक संसाधनों के अत्यधिक शोषण पर आधारित 'आर्थिक संवृद्धि' और 'आर्थिक विकास' के विचार के बाद संपूर्ण विश्व 'धारणीय (सतत पोषणीय) आर्थिक विकास' (Sustainable Development Goals) के लक्ष्य निर्धारित करके दीर्घकालीन वैश्विक विकास को सुनिश्चित करने का प्रयास कर रहा है। किंतु क्या वैश्विक संस्थाओं के पास वास्तव में कोई ऐसा विचार या कार्यक्रम है जो संपूर्ण विश्व के कल्याण को सुनिश्चित करता हो? क्या भारतीय ज्ञान परंपरा में हमें कोई ऐसा मार्ग आर्थिक विकास का मिलता है जो संपूर्ण मानव जाति के लिए कल्याणकारी हो? भारतीय संस्कृति की मिट्टी में अंकुरित 'अर्थायाम' एक ऐसा ही आर्थिक विचार है जो समाज को अर्थ के अभाव और प्रभाव दोनों से मुक्त रखते हुए, मनुष्य की प्रगति और सुख का मार्ग प्रशस्त करता है।

पश्चिमी अर्थ चिंतन: 'आर्थिक संवृद्धि' का विचार

पश्चिम में 15वीं सदी तक आर्थिक विचारों पर संप्रदाय विशेष से संबंधित नैतिक और धार्मिक विचारों का प्रभाव ही पूर्ण रूप से दिखाई पड़ता है। जैसे कि ब्याज लेने को पाप समझना एवं व्यापार तथा लाभ को संदेह की दृष्टि से देखना। किंतु पुनर्जागरण काल एवं उपनिवेशवाद के दौर के पश्चात अधिकाधिक वस्तुओं और सेवाओं के उपभोग को ही सुख का पर्याय माना गया। 18वीं सदी के अंत में एडम स्मिथ द्वारा लिखित 'ऐन इंक्वायरी इंटू द नेचर ऐंड कॉजेज ऑफ वेल्थ ऑफ नेशंस' में आर्थिक संवृद्धि (Economic Growth) के विचार का प्रतिपादन किया गया, जो 19वीं सदी में औद्योगिक उत्पादन में तीव्र वृद्धि का आधार बना तथा 20वीं सदी के आरंभ में आर्थिक विश्लेषण का केंद्रीय विषय बन गया। अधिक आय का सृजन करने के लिए आवश्यकता से अधिक उत्पादन करने और अधिकाधिक उत्पादन करने के लिए प्राकृतिक संसाधनों का अधिकाधिक शोषण करने के विचार का विकास हुआ। इसे ही 'आर्थिक समृद्धि' (Wealth of Nations) के रूप में स्वीकार किया गया। धीरे-धीरे बाजार आधारित अर्थव्यवस्था का महत्त्व बढ़ने लगा। पहले-पहल बाजार माँग को पूरा करने के लिए वस्तुओं और सेवाओं की पूर्ति की जाती थी किंतु बाजार आधारित अर्थव्यवस्था में अतिरिक्त उत्पादन को खपाने के लिए नए-नए बजारों की खोज की जाने लगी। 1929 की विश्वव्यापी मंदी से पहले तक यह

माना जाता रहा कि 'पूर्ति अपनी माँग स्वयं तैयार कर लेती है'।[1] किंतु जे एम केन्ज ने 'जनरल थ्योरी' (General Theory of Employment] Interest and Money] 1936) लिखकर समग्र अर्थशास्त्र (Macro Economics) के अंतर्गत कुल माँग (Aggregate Demand) को पूर्ण रोजगार संतुलन प्राप्ति के लिए एक महत्त्वपूर्ण अस्त्र बना दिया। जिसके लिए सरकारी हस्तक्षेप द्वारा माँग को बढ़ाने और उपभोक्ताओं को अनावश्यक वस्तुओं के उपभोग के लिए प्रेरित किया जाने लगा। जिससे कि अधिक उत्पादन को बाजार में खपाया जा सके। परिणामस्वरूप आय एवं उपभोग का स्तर बढ़ सके तथा जीवन स्तर बेहतर हो सके, इसे ही आर्थिक संवृद्धि का नाम दिया गया। विभिन्न पश्चिमी अर्थशास्त्रियों के साथ-साथ विश्व बैंक आर्थिक संवृद्धि की जो परिभाषा स्वीकार करता है उसके अनुसार निश्चित समय अवधि में किसी देश के वास्तविक उत्पादन में होने वाली वृद्धि आर्थिक संवृद्धि कहलाती है।

"आर्थिक संवृद्धि का अर्थ है किसी राष्ट्र की वस्तुओं और सेवाओं के वास्तविक उत्पादन में समय के साथ वृद्धि होना।"[2]

"आर्थिक संवृद्धि वह निरंतर प्रक्रिया है जिसके माध्यम से अर्थव्यवस्था की उत्पादक क्षमता में समय के साथ वृद्धि होती है, जिससे राष्ट्रीय उत्पादन और आय का स्तर बढ़ता है।"[3]

आर्थिक संवृद्धि से आर्थिक विकास एवं धारणीय विकास तक

बीसवीं सदी के मध्य से ही पश्चिम के अर्थशास्त्रियों ने यह समझ लिया कि केवल वस्तुओं और सेवाओं के उत्पादन में वृद्धि करना ही आर्थिक प्रगति के लिए पर्याप्त नहीं है। 1936 में जे एम केन्ज ने समग्र अर्थशास्त्र में सीमांत उपभोग प्रवृत्ति (MPC) के अधिक होने को तथा प्रभावी माँग (Effective Demand) को श्रेष्ठ नीति उपकरण के रूप में रेखांकित किया।[4] आर्थिक विकास की अवधारणा के अंतर्गत यह स्पष्ट किया गया कि उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ देश की आधारिक संरचना में सकारात्मक परिवर्तन होने भी आवश्यक है। अर्थात उत्पादन में वृद्धि के साथ-साथ शिक्षा और स्वास्थ्य में सुधार एवं तकनीकी उन्नति भी होनी चाहिए। यह माना गया कि आर्थिक विकास का विचार अल्प विकसित देशों के लिए अधिक महत्त्वपूर्ण है और जिन राष्ट्रों को विकसित माना गया उनके लिए आर्थिक संवृद्धि का विचार महत्त्वपूर्ण है क्योंकि वह आधारिक संरचना का विकास पहले ही कर चुके हैं। इसलिए वह केवल उत्पादन में वृद्धि कर सकते हैं। आर्थिक विकास की प्रचलित अवधारणा के अनुसार यह एक सतत प्रक्रिया है जिसके अंतर्गत दीर्घकाल में किसी देश में रहने वाले लोगों की वास्तविक प्रति व्यक्ति आय में वृद्धि होती है।

"आर्थिक विकास वह प्रक्रिया है, जिसके द्वारा सरल तथा कम आय वाली राष्ट्रीय अर्थव्यवस्थाएँ आधुनिक औद्योगिक अर्थव्यवस्थाओं में बदल जाती हैं।"[5]

किंतु 20वीं सदी के अंत से ही पश्चिमी अर्थशास्त्रियों और पर्यावरणविदों को तेजी से घटते प्राकृतिक संसाधनों और बढ़ते प्रदूषण ने चिंता में डालना शुरू किया। अब 'धारणीय आर्थिक विकास' (Sustainable Economic Development) की अवधारणा का विकास हुआ। अर्थात् आर्थिक विकास ऐसा हो जिसे दीर्घकाल में भी बनाए रखा जा सके। जिसमें वर्तमान उपभोग स्तर में सुधार करते हुए भावी पीढ़ी की उपभोग आवश्यकताओं से समझौता न करना पड़े और प्रदूषण पर नियंत्रण रखते हुए पर्यावरण के ह्रास को न्यूनतम किया जा सके।

"धारणीय विकास वह विकास है जो वर्तमान की आवश्यकताओं को इस प्रकार पूरा करता है कि भविष्य की पीढ़ियों की आवश्यकताओं को पूरा करने की क्षमता से समझौता न हो।"[6]

निष्कर्ष रूप में देखें तो पश्चिम में 'अर्थ' का चिंतन उत्पादन की वृद्धि से आरंभ होकर प्राकृतिक संसाधनों और पर्यावरण के महत्त्व को समझने की स्थिति में पहुँचा। अब इससे आगे बढ़कर 2012 से विकास को केवल पर्यावरणीय संतुलन ही नहीं अपितु मानसिक स्वास्थ्य एवं सामाजिक सहयोग से जोड़कर भी खुशी सूचकांक (Happiness Index) के रूप में देखा जा रहा है। वर्तमान में 'जीवन की गुणवत्ता' (Quality of Life) को महत्त्व देते हुए संयुक्त राष्ट्र (SDSN) द्वारा वैश्विक खुशी सूचकांक रिपोर्ट छह कारकों के आधार पर प्रस्तुत की जाती है। "किंतु आज भी न केवल पश्चिमी अर्थशास्त्री बल्कि पश्चिम की आर्थिक प्रणाली भी इच्छाओं की असीम बहुलता पर आधारित है और उनका मानना है कि ऐसी प्रणाली न केवल इच्छाओं की संतुष्टि से उत्पन्न होने वाले अधिक सुख को वहन करती है बल्कि

इससे वृद्धि भी होती है"[7] यद्यपि समय - समय पर अल्फ्रेड मार्शल, रॉबर्ट ओवन, टॉलस्टॉय, सेंट थॉमस जैसे लोगों ने विपरीत विचार भी दिए किंतु पश्चिमी जगत उन पर चल नहीं पाया। "इस प्रकार पश्चिमी अर्थ चिंतन की नींव व्यक्तिवाद और बाजारवाद के आधार पर बनी"।[8]

भारतीय अर्थ चिंतनः प्रकृति केंद्रित विकास

वेदों को निर्विवाद रूप से सृष्टि के आदि ग्रंथ माना जाता है। वेदों में अर्थशास्त्र शब्द का उपयोग कहीं नहीं हुआ है किंतु अर्थशास्त्र की विषय वस्तु जैसे उत्पादन, धन संग्रह एवं उसका राज्य के कल्याण के लिए उपयोग आदि विषयों पर विचार मिलते हैं। विशेष रूप से कृषि, पशुपालन और व्यापार आदि विषयों पर श्रुति प्रत्यक्ष रूप से नहीं किंतु परोक्ष रूप से मिलती है।

"यस्यां बीजं पुरुषः पर्यवस्येत, स जातो भवति।"..."[9]
इसका आशय है कि जो भूमि में बीज बोता है, वही उस भूमि का पुत्र कहलाता है - यह कृषक की भूमिका दर्शाता है।
"वणिजो यन्ति समुद्रम्..."[10]

व्यापारी (वणिज) समुद्र की ओर जाते हैं - इससे समुद्री व्यापार का परोक्ष संकेत मिलता है।

"आर्थिक विचारों से हमारा तात्पर्य उपभोग, उत्पादन, विनिमय और धन के वितरण से जुड़े विचारों से है। इस अर्थ में भारत में आर्थिक विचार उतने ही पुराने हैं जितना कि धन स्वयं।... कृषि और पशुपालन आर्यों के दो सबसे महत्त्वपूर्ण व्यवसाय थे। यह स्पष्ट है कि उस समय का अर्थशास्त्र लोगों की इन दो आर्थिक गतिविधियों तक ही सीमित था। समय बीतने के साथ-साथ व्यापार, वाणिज्य, उद्योग और बैंकिंग भी महत्त्वपूर्ण व्यवसाय बन गए और बाद के काल में एवं वेदों और अन्य संस्कृत कार्यो में इन आर्थिक गतिविधियों का उल्लेख भी किया गया है। उदाहरण के लिए, अथर्ववेद में इंद्र और अग्नि से व्यापार मार्गों को सुरक्षित बनाने के लिए एक लंबी प्रार्थना की गई है ताकि व्यापारी देश में घूम-घूम कर धन कमा सकें।"[11]

सनातन धर्म में चार पुरुषार्थ माने गए हैं - धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। भारतीय ज्ञान परंपरा में अर्थ को जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है। "प्राचीन काल में भारत में अर्थशास्त्र शब्द का प्रयोग प्रशासन की कला और विज्ञान, व्यवहारिक नैतिकता और व्यक्ति एवं समाज के आर्थिक जीवन के अध्ययन के लिए प्रयोग में लाया जाता था। उन दिनों अर्थशास्त्र वर्तमान समय के अर्थ अनुसार अर्थशास्त्र नहीं था, बल्कि समाजशास्त्र, राजनीति, प्रशासन जिसमें रक्षा और आर्थिक जीवन का अध्ययन शामिल था, इन सभी का एक संयोजन था। महाभारत में लिखा है कि ब्रह्मा ने एक विज्ञान की रचना की जिसमें धर्म, अर्थ और काम के विभिन्न पहलुओं पर चर्चा की गई और इसे त्रिवर्ग नाम दिया गया, जो शायद अर्थशास्त्र का सबसे पुराना नाम था।

मूल रूप से त्रिवर्ग के विज्ञान में एक लाख अध्याय थे और इसमें तीन वेद, तर्क, वार्ता (अर्थशास्त्र), दंडनीति और राजाओं के कर्तव्यों पर चर्चा करने वाले राजधर्म शामिल थे। बाद में इसे भगवान शिव द्वारा दस हजार अध्यायों में और इंद्र द्वारा पांच हजार अध्यायों में संक्षिप्त कर दिया गया। आचार्य बृहस्पति, जो त्रिवर्ग के विज्ञान को खोजने वाले पहले मानव थे, ने बाद में इसे अर्थशास्त्र कहा, इसे आगे तीन हजार अध्यायों में संक्षेपित किया और इसे बाद के लेखकों द्वारा बार्हस्पत्य नीतिशास्त्र कहा गया। अंत में, शुक्राचार्य ने इसे दुनिया के लाभ के लिए एक हजार अध्यायों तक कम कर दिया।"[12]

"ततोऽध्यायसहस्राणां शतं चक्रे स्वबुद्धिजम्।
यत्र धर्मस्तथैवार्थः कामश्चौवामिवणितः।
त्रिवर्ग इति विख्यातो गण एष स्वयम्भुवा।।"[13]

इसके बाद ब्रह्मा ने अपनी बुद्धि से सहस्रों अध्यायों का एक शत (बहुल) रचा, जिसमें धर्म, अर्थ और काम को सुंदर ढंग से वर्णित किया गया। यह त्रिवर्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ और इसका रचयिता स्वयंभू (ब्रह्मा) हैं। शुक्र ने अर्थशास्त्र की परिभाषा देते हुए कहा था "अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो शास्त्रों के अनुसार राजा के कर्तव्यों पर चर्चा करता है। यह धन संग्रह के तरीकों का भी अध्ययन करता है।... उन्होंने धन को परिभाषित किया है और यहाँ तक कि मूल्य के सिद्धांत का एक प्रारंभिक विश्लेषण भी दिया है।"[14] शुक्र नीति में मनुष्य द्वारा उचित उचित मात्रा में व्यय करने का उल्लेख मिलता है।

"उचितंतुव्वययंकालेनरःकुर्यात्रचान्यथा।
सुभार्यमित्राणि शक्तयांसरक्षयेद्वनै।

अर्थात मनुष्य समय पर उचित व्यय को करे, अन्यथा न करे, और शक्ति के अनुसार श्रेष्ठ स्त्री, पुत्र, मित्र इनकी धन से रक्षा करे।"[15] वर्तमान समय में हम सरकार द्वारा तथा देश के लोगों द्वारा उचित मात्रा में किए जाने वाले व्यय (Public finance) का अध्ययन करते हैं।

अर्थायामः सृष्टि के कल्याण का आर्थिक सिद्धांत

दीनदयाल जी ने अपनी पुस्तक 'भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा'[16] में अर्थायाम की व्याख्या की है। 'अर्थायाम' में विकास की वह दिशा प्रस्तुत की गई है जो भारतीय जीवनमूल्यों के अनुकूल हो, जिसमें भौतिक समृद्धि के साथ-साथ आत्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक उन्नयन भी हो। यह दृष्टिकोण आज के "समावेशी विकास" (inclusive development) और "सतत विकास" (sustainable development) जैसी अवधारणाओं से भी मेल खाता है, जिन पर यू एन डी पी जैसी अंतरराष्ट्रीय संस्थाएँ कार्य कर रही हैं।

"उपाध्याय की मान्यता है कि उपभोगवाद, स्पर्धावाद व वर्ग संघर्ष इन सबका आधार अनियंत्रित उपभोग है। पश्चिम ने अधिकाधिक उपभोग के अपने पुराने सिद्धांत को ही चलने दिया और उसमें संशोधन की जरूरत नहीं समझी। वास्तविकता यह है कि अधिकाधिक उपभोग का सिद्धांत ही मनुष्य के दुखों का कारण है।"[17] अतः 'वे समग्र मानववाद' के आधार पर आर्थिक लोकतंत्र व विकेंद्रित अर्थनीति का निरूपण करते हैं। उनके अनुसार पूँजीवाद व समाजवाद, दोनों ही 'लोकतंत्र' व 'संस्कृति' का व्यवहारतः निषेध करते हैं।"[18]

दीनदयाल उपाध्याय के अनुसार "अर्थ समाज की धारणा के लिए आवश्यक है। जितने मात्र से व्यक्ति अपना भरण-पोषण करके अन्य श्रेष्ठ मूल्य की प्राप्ति के लिए प्रयास कर सके उतने को ही हमने अपने कार्यक्रम में स्थान दिया है। उपाध्याय उस अर्थशास्त्र के खिलाफ है जो मानव जीवन के सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक पहलुओं की अपेक्षा करता है।"[19] श्रम करना मनुष्य का मूलभूत कर्तव्य है। इसी प्रकार मनुष्य को श्रम करने का यह अधिकार देना राज्य का मूलभूत कर्तव्य है। अत: श्रम का अधिकार (Right to work) मनुष्य का संवैधानिक अधिकार होना चाहिए।

समावेशी विकास का सूत्र : विकेंद्रित अर्थव्यवस्था

अर्थायाम के विचार को स्पष्ट करते हुए दीनदयाल उपाध्याय कहते हैं कि वर्तमान समय में जो परिस्थितियाँ हैं उनमें बड़े उद्योगों की स्थापना और पूँजी के केंद्रीकरण के लाभ अत्यंत कम हैं और हानि उनसे बहुत अधिक हैं। जिन परिस्थितियों में पश्चिम के देशों ने बड़े उद्योगों की स्थापना की थी वह परिस्थितियाँ भिन्न थी क्योंकि उनके पास उसे समय उपनिवेशों के बड़े बाजार थे जहां से वह कच्चा माल सस्ते दामों पर खरीद कर अपने तैयार माल को उन उपनिवेशों के बाजारों में ऊंची कीमतों पर बेचने में सक्षम थे। उनका मानना है कि बड़े उद्योगों में पूँजी के केंद्रीकरण से ऐसे आर्थिक समूह तैयार हो जाते हैं जो देश की राजनीति को भी मनचाहे ढंग से प्रभावित करते हैं। इससे समाज में विषमता बढ़ती है जो वर्ग संघर्ष को भी जन्म देती है। इसके साथ-साथ वह विदेशी पूँजी पर आधारित आर्थिक विकास को भी देश के दीर्घकालीन विकास, सुख और शांति के लिए शुभ नहीं मानते हैं। दूसरी ओर, वह मानते हैं कि विकेंद्रित अर्थव्यवस्था के लिए विकेंद्रित राजनीतिक व्यवस्था भी आवश्यक है।... विकेंद्रित अर्थव्यवस्था चाहिए। स्वयंसेवी क्षेत्र (सेल्फ एंप्लॉयड सेक्टर) को खड़ा करना होगा। यह क्षेत्र जितना बड़ा होगा उतना ही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा, मनुष्यता का विकास हो सकेगा, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का विचार कर सकेगा। प्रत्येक मनुष्य की व्यक्तिश: आवश्यकताओं और विशेषताओं का विचार करके उसे काम देने पर उसके गुणों का विकास हो सकता है यह विकेंद्रित अर्थव्यवस्था भारत ही संसार को दे सकता है।"[20] अत: तृतीय विश्व के देशों को ग्रामोन्मुखी लघु उद्योग वाली विकेंद्रित अर्थव्यवस्था को अपनाना चाहिए। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि उपाध्याय बड़े उद्योगों का पूर्णतया निषेध करना चाहते हैं बल्कि वह छोटे उद्योगों पर बड़े उद्योगों को अवलंबित करना चाहते हैं। यह वास्तव में वर्तमान समय में एक ऐसा मार्ग आपको दिखाते हैं जिसमें आप आवश्यक मात्रा में उत्पादन सरलता से प्राप्त कर सकते हैं तथा साथ ही साथ अपने देश की बड़ी और बढ़ती हुई श्रम शक्ति को रोजगार भी सरलता से उपलब्ध करवा सकते हैं। इसके साथ-साथ यह मार्ग श्रमिकों और पूँजीपतियों के बीच वर्ग संघर्ष की संभावनाओं को भी न्यूनतम करता है। वे कहते हैं कि "...उत्पादक वस्तु बड़े उद्योगों द्वारा तैयार की जाएं तथा उपभोग वस्तु छोटे उद्योगों द्वारा बनाई जाएं।... दूसरा, उपभोग वस्तु के उत्पादन के काम में आने वाली वस्तुओं को अलग-अलग छोटे पैमाने पर तैयार करना तथा उनका एकत्रीकरण बड़े कारखाने में करना; जैसे स्विट्जरलैंड में घड़ी के पुर्जे छोटे-छोटे शिल्पियों द्वारा तैयार करके, उन्हें इकट्ठा करके घड़ी के रूप में बड़े कारखाने में तैयार किया जाता है। मोटर आदि जितनी बड़ी-बड़ी चीज हैं उनके बहुत से भाग इसी प्रकार तैयार किए जाते हैं। जापान में इस दृष्टि से बहुत काम हुआ है। वहाँ रेलगाड़ियाँ बनाने के लिए 77%, जहाज बनाने के लिए 70%, तथा मोटर के निर्माण में 62% समान इन छोटे उद्योगों द्वारा तैयार करके प्रयोग किया जाता है। ...यद्यपि उपयुक्त दो वर्गों के उद्योगों को भली-भांति स्थापित कर दिया जाए तो प्रतिस्पर्धी उद्योग का क्षेत्र बहुत सीमित हो जाएगा।"[21] यह आँकड़े यद्यपि दीनदयाल जी के समय के हैं किंतु आज भी जापान में रोजगार उपलब्ध करवाने में 70 प्रतिशत तथा सकल घरेलू उत्पाद (जीडीपी) में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से 50 प्रतिशत से अधिक योगदान छोटे एवं मझोले उद्योगों का है।

दीनदयाल जी छोटे और कुटीर उद्योगों को विकेंद्रित अर्थव्यवस्था का मेरुदंड मानते हैं। किंतु ऐसा मानते हुए वह बड़े उद्योगों की अवहेलना नहीं करते। ...आर्थिक अभाव तथा प्रभाव दोनों ही उपभोग को असंयमित करते हैं। अत: अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो जीवन के ृअर्थायामृ की संपूर्ति करे।"[22] पश्चिम ने प्रकृति के अधिकतम संभव शोषण को ही विकास का आधार बना लिया। जिसका परिणाम यह है कि आज प्राकृतिक संसाधनों का अभाव उत्पन्न हो रहा है और विकसित माने जाने वाले देश एक-दूसरे के संसाधनों को हड़पने के षड्यंत्र और युद्ध कर रहे हैं। किंतु भारतीय ज्ञान परंपरा में हमें ऐसा मार्ग दिखाई देता है जो मनुष्य के भौतिक सुख और आध्यात्मिक आनंद का मार्ग प्रशस्त करता है। वह है प्रकृति का संपोषण करते हुए अर्थात् पर्यावरण के सभी अंगों को सहयोगी बनाते हुए विकास का मार्ग। वास्तव में यही वह मार्ग है जिस पर चलकर संपूर्ण सृष्टि दीर्घकाल तक सुखी और आनंदित रह सकती है।

प्रकृति का शोषण नहीं अपितु प्रकृति का संपोषण

भारत में वैदिक काल से ही प्रकृति के महत्त्व को समझ गया। वेदकालीन युग से ही ऋषियों ने पानी (नदियों), पेड़ (वनों), पशु (गौ माता, बैल आदि पशुओं), पवन (शुद्ध हवा) और पावक (अग्नि) आदि सभी प्राकृतिक तत्वों के महत्त्व को समझकर संपूर्ण सृष्टि के विकास की परिकल्पना पर आधारित सिद्धांत समाज को दिया। इसके साथ-साथ उन्होंने यह भी चिंता की कि विभिन्न वर्णों से संबंधित लोग कैसे इस विचार के साथ जुड़ें और अपने व्यक्तिगत जीवन में प्रकृति और पर्यावरण को पर्याप्त महत्त्व दें। यह भारतीय दर्शन का अर्थशास्त्र पर प्रभाव था। यह केवल एक आदर्शवादी आर्थिक दर्शन नहीं था इसका व्यावहारिक महत्त्व यह था कि हजारों वर्षों तक भारत संपूर्ण विश्व में आर्थिक समृद्धि का सिरमौर बन रहा।

"भारत का विश्व के सकल घरेलू

उत्पाद (World GDP) में 1000 ई. तक लगभग एक तिहाई का योगदान था जो 1000 ई से 1700 ई के बीच 22% से 29% के बीच रहा, जो इस अवधि के दौरान भारत की आर्थिक समृद्धि को रेखांकित करता है"[23]

यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि भारत ने सदैव समृद्धि को सम्मान दिया और अर्थ को चार पुरुषार्थों में रखा किंतु अर्थ या धन प्राप्ति को ही जीवन का अंतिम लक्ष्य नहीं माना। "भारतीय दर्शन का सार इस तथ्य में निहित है कि यह अपनी सभी शक्तियों के साथ इस भौतिक दुनिया के मूल्य और महत्त्व को पहचानता है, धन को एक वास्तविकता के रूप में मानता है, यह इन चीजों को उच्च उद्देश्यों का साधन मानता है। भारतीय दर्शन में धन कभी भी अपने आपमें एक अंत नहीं था। हम पाते हैं कि महात्मा गांधी और विनोबा जैसे आधुनिक अर्थशास्त्रियों ने भी अपने आर्थिक विचारों में इस परंपरा को बनाए रखा है।"[24] दीनदयाल जी भी इसी मार्ग के अनुगामी हैं। "यह व्यवस्था 'मानव' की अवहेलना न कर, उसके विकास में सहायक हो तथा समाज के सांस्कृतिक व अन्य जीवन मूल्यों की रक्षा करे। यह लक्ष्मण रेखा है, जिसका अतिक्रमण अर्थ रचना को किसी भी परिस्थिति में नहीं करना चाहिए।"[25] पश्चिम में इस तरह के प्रयास का श्रेय जिसमें धन को समाज में सही स्थान दिया गया हो, अल्फ्रेड मार्शल को दिया जा सकता है।

अर्थायाम एवं सतत पोषणीय विकास की अवधारणा

अपरमात्रिक उद्योग नीतिः "उपभोग की आवश्यकता एवं अपेक्षित बचत के लिए पर्याप्त उत्पादन को अपरमात्रिक उत्पादन कहते हैं। यह उत्पादन की मर्यादा है।. ..प्राकृतिक संसाधनों की एक सीमा है। उनका उच्छृंखल दोहन नहीं करना चाहिए। प्रकृति में एक संतुलन (Equilibrium) है... प्रकृति अपनी पद्धति से क्षय की पूर्ति करती रहती है। मानव इतनी तेजी से उसका विनाश कर रहा है कि न तो प्रकृति क्षतिपूर्ति कर पाती है और न ही उसका संतुलन ही टिक पाता है। प्रत्येक क्रिया के सर्वांगीण परिणामों का विचार करने लायक ज्ञान का अभी भी मानव के पास अभाव है। अतः प्राकृतिक संसाधनों की मर्यादा का उल्लंघन करने वाला उत्पादन वर्जनीय है।"[26]

दीनदयाल जी कहते हैं – "आर्थिक अभाव तथा प्रभाव दोनों ही उपभोग को असंयमित करते हैं। अतः अर्थव्यवस्था ऐसी होनी चाहिए जो जीवन के अर्थायाम की संपूर्ति करे।"[27] भारत में अर्थ के मूल में भी धर्म है जिसका पोषण परिवार एवं समाज, निर्धारित मूल्यों के आधार पर करता है। इसलिए धर्म आधारित आर्थिक मूल्य एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक परिवार और समाज के माध्यम से पहुँचते हैं जिससे सभी इकाइयों का विकास सतत रूप में होता है। 'सादा जीवन, उच्च विचार', 'प्रकृति के कण – कण में ईश्वर है', 'प्रकृति का शोषण नहीं अपितु संपोषण', 'वसुधैव कुटुंबकम' जैसे मूल्य परिवार और समाज संस्थाओं के माध्यम से ही हजारों वर्षों से आज तक जीवित रहे हैं। आज 'वन अर्थ – वन फैमिली' (One Earth & One Family) जैसे विचारों के मूल में यही मूल्य हैं जो संपूर्ण विश्व को सतत प्रगति के मार्ग पर अग्रसर कर सकते हैं।

संदर्भ–

1. "उत्पादन ही उत्पादों के लिए माँग पैदा करता है" – ज्याँ बैप्टीज से, *अ ट्रीटाइज ऑन पोलिटिकल इकोनॉमी*, बुक I, अध्याय पंद्रह, पृ. 138 (1821 का अंग्रेजी संस्करण, अनु. सी.आर.प्रिंसेप, सं.–क्लीमेंट बिडल)
2. सैमुअलसन, पी.ए.. एवं नॉर्डस, डब्ल्यू.डी. (2010). *इकोनॉमिक्स* (19वां सं.) मैक्ग्रा हिल एजूकेशन, पी. 474
3. *आर्थिक विकास* (2015), संस्करण 12, माइकल टोडरो एवं स्टीफन सी स्मिथ, पृष्ठ संख्या 14
4. द *जनरल थिअरी ऑफ एम्प्लॉयमेंट, इंट्रेस्ट ऐंड मनी*, कींस, जे.एम. (1936). चौप्टर 3 (एफेक्टिव डिमांड) चौप्टर 10 (एमपीसी ऐंड मल्टीप्लायर)
5. *आर्थिक विकास में अग्रणी मुद्दे* (आठवा संस्करण), गेराल्ड एम. मायर और जेम्स ई. राउच, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, पृष्ठ 7
6. *अवर कॉमर फ्यूचर* (ब्रंटलैंड रिपोर्ट, 1987), चैप्टर 2 – टुवर्ड्स सस्टेनेबल डेवलपमेंट, वर्ल्ड कमीशन ऑन एनवायरमेंट ऐंड डेवलपमेंट (डब्ल्यूसीईडी), पृ. 43
7. *इकोनॉमिक आइडियाज इन इंडिया बिफोर कौटिल्य* (रामानंद विद्या भवन से प्रकाशित), बाँके लाल शर्मा, आर्कलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया, सेंट्रल आर्कलॉजिकल लाइब्रेरी, नई दिल्ली, पृ. 36
8. टॉनीज, एफ. (1957). *कम्युनिटी ऐंड सोसायटी* (*जेमिनशाफ्ट ऐंड जेसेलशाफ्ट*) (सी.पी. लूमिस, अनु.) मिशिगन स्टेट यूनिवर्सिटी प्रेस (मूल कृति प्रकाशन 1887) पृ. 65–68
9. *अथर्ववेद* 12.1 (पृथ्वी सूक्त)
10. *ऋग्वेद* 9.112.2
11. वही vii, पृष्ठ संख्या 24
12. वही, vii पृष्ठ संख्या 25
13. *महाभारत*, शान्तिपर्व 56.26–30
14. वही, vii, पृष्ठ संख्या 39
15. *शुक्रनीति*, पंडित मिहिर चंद्र, 1847 में प्रकाशित, पृष्ठ संख्या 80
16. उपाध्याय, दीनदयाल (1958). '*भारतीय अर्थनीति : विकास की एक दिशा*', डॉ महेश चंद्र शर्मा द्वारा सम्पादित '*दीनदयाल उपाध्याय संपूर्ण वाङ्गमय*, खंड 5' प्रभात प्रकाशन द्वारा प्रकाशित
17. पं. *दीनदयाल उपाध्याय : कर्तृत्व एवं विचार*, डॉ महेश चादर शर्मा , प्रभात प्रकाशन, पृष्ठ संख्या 241 –242
18. वही, पृष्ठ संख्या 247
19. वही, पृष्ठ संख्या 241
20. वही, पृष्ठ संख्या 253–254
21. वही, पृष्ठ संख्या 254
22. वही, xvii पृष्ठ संख्या 258
23. द *वर्ल्ड इकोनॉमीः अ मिलेनियल पर्सपेक्टिव* (2001), ओसीईडी पब्लिशिंग, ऐंगस मैडिसन, अपेंडिक्स बी, टेबल बी–21
24. क्रम संख्या v, पृष्ठ संख्या 35
25. वही xvii, पृष्ठ संख्या 260
26. वही xvii, पृष्ठ संख्या 257–258
27. वही xvii, पृष्ठ संख्या 25

प्रो. संजीव कुमार शर्मा

राज्य और सुशासन की भारतीय दृष्टि

भारत में मानवजीवन के प्रत्येक आयाम का पृथक धर्म वर्णित है और धर्म की व्याख्या निरंतर परिष्कृत और परिमार्जित होती रही है। सुशासन के परिप्रेक्ष्य में एक अंतर्दृष्टि

विश्व की प्राचीनतम संस्कृति और अनन्यतम सभ्यता के आदि-ग्रंथों की वृहद्, विशद, व्यापक, सर्वस्पर्शी, सर्वसमावेशी, अद्‌भुत एवं अकल्पनीय मौलिकतायुक्त, विश्वकल्याणदृष्टि संयुक्त वैचारिकी में से राज्य की अत्याधुनिक अवधारणा के मूल बिंदु खोजने के प्रयास विरल होने के साथ ही पुरस्करणीय भी हैं। इनमें भारतीय सांस्कृतिक पारंपरिक ज्ञान-वैभव के प्रति सहज, स्वाभाविक सम्मान के संचारी भाव की संयुति निष्पक्ष, निरपेक्ष, तटस्थ, वैज्ञानिक तथा विश्लेषणात्मक अभिरुचि से होनी भी अपरिहार्य है। वही तार्किक विवेचना तथा बौद्धिक गवेषणा के मूल में विद्यमान होना अपेक्षित है। सहस्रों शताब्दियों पूर्व के भारतीय समाजों में अवस्थित चामत्कारिक वैविध्य तथा उसकी नैसर्गिक स्वीकृति, अकल्पनीय विश्वकल्याण दृष्टि, सार्वत्रिक भद्र-कामना की सशक्त अभिव्यक्ति, समस्त जीवधारियों, प्राणियों तथा ग्रह-नक्षत्रों की शांति की कामना, सहमति व असहमति के अविश्वसनीय सहजीवन, बौद्धिक श्रेष्ठताओं का सार्वजनीन अभिनंदन, राजनैतिक-प्रशासनिक अभिकरणों की धर्म तथा मर्यादा नियंत्रित आचरणबद्धता, संपूर्ण सृष्टि के प्रत्येक कण में ईश्वरत्व का अनुपम दैवीय भाव, विद्या तथा ज्ञान की सर्वस्वीकृत वरेण्यता, समस्त समुदाय के साथ एकात्म-भाव की संपृक्ति, सबके साथ बोलने, साथ समझने व जानने, साथ कर्म तथा उपासना करने की इच्छा, सबमें वैचारिक वैभिन्य तथा भाषा, उपासना पद्धति, आदि के बहुधात्व के साथ समान मंत्र, समान आकूति, समान हृदय की अभिलाषा, अपने-पराये से परे संपूर्ण वसुधा को कुटुंब मानने की अपेक्षा, संकुचितताओं से सर्वथा विलंबित वृहत् समष्टि के भद्र की पवित्र इच्छा, समग्र-हित के समक्ष स्वहित का परित्याग, सब प्राणियों में आत्मवत् भाव, आदि अनेकानेक अविश्वसनीय वैशिष्ट्य-युक्त भारतीय पारंपरिक सामूहिक मेधा की ओर दृष्टिपात करना वस्तुतः पुनीत कर्त्तव्य तो है ही परंतु हम सबका समेकित दायित्व भी है।

प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा के अजस्र, अक्षुण्ण, अनवरत, अकलुषित तथा आनंददायक प्रवाह में सनातन ज्ञान की सतत प्रवहमान विद्या-अविद्या-संयुक्त अविरल स्रोतस्विनी मानव-मात्र के लिए पुण्यसलिला है। इसका अवगाहन मात्रा बौद्धिक व्यायाम नहीं हो सकता है। इसका विश्लेषण अकादमिक श्रेष्ठता का तार्किक आधार नहीं हो सकता है। इसकी गवेषणा वैश्विक विशिष्टता की भावभूमि नहीं बन सकती है। इसका विवेचन भारतीय तर्क-प्रतिष्ठा का कारण नहीं हो सकता है। इसका अनुशीलन सामान्य विचार-सरणि का अनुपालन नहीं हो सकता है। इसका अनुसंधान मात्र भारतीय विचार की वरेण्यता स्थापित करने का उपक्रम नहीं हो सकता है। किसी भी प्रकार की आत्मीयता का उद्रेक निष्पक्ष मूल्यांकन तथा तटस्थ विश्लेषण में बाधा उत्पन्न कर सकता है। अतः यह समीचीन होगा कि सनातन भारतीय ज्ञान-परंपरा के अनाविल तत्त्वों की असंदिग्ध प्रस्तुति की जाए और उसमें से युगानुकूल, देशानुकूल, समयानुकूल बिंदुओं की समकालीन उपादेयता, प्रासंगिकता तथा उपयोगिता पर सम्यक् विचार किया जाए। यद्यपि वैश्विक परिदृश्य में सुशासन की अवधारणा की सैद्धांतिक आधार-भूमि विस्मयकारी रूप से दार्शनिक आयाम से पूर्णतः शून्य है। तथापि इस व्यापार-आश्रित विचार की

अकादमिक स्वीकार्यता ने विश्व भर के राष्ट्रों की राजनैतिक प्रशासनिक व्यवस्थाओं का बाध्यकारी रूपांतरण किया है। परिणामत: प्रशासनिक अभिकरणों, संरचनाओं, प्रक्रियाओं, अपेक्षाओं, दायित्वों तथा लक्ष्यों का आवश्यक पुनर्निर्धारण हुआ है। साथ ही नीति-निर्माण, सांविधानिक व्यवस्था, नेतृत्व, दलीय अंतर्संबंधों, नागरिक अंत:क्रियाओं, अंतरराष्ट्रीय संगठनों तथा नवीन राजनैतिक अभिकल्पों के स्वरूप तथा कार्यक्षेत्र में भी अकल्पनीय परिवर्तन हुए हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अल्पज्ञात तथा सीमित इतिवृत्त वाले राष्ट्रों, समाजों, देशों, सभ्यताओं और राज्यों के लिए यह परिदृश्य असुविधाजनक कदापि नहीं है। परंतु सहस्रों शताब्दियों, अगण्य सहस्राब्दियों तथा अनुपलब्ध इतिहास के युगों व कल्पों के ज्ञान वैभव से निरंतर पल्लवित भारतीय सांस्कृतिक राष्ट्र-भाव के लिए यह वैचारिकी साधारण है। यजुर्वेद की काठक संहिता में सा प्रथमा संस्कृति: विश्ववारा[1] की उद्घोषणा करने वाले ऋषि की तप:-पूत वाणी का नैरंतर्य विष्णु पुराण में देवताओं द्वारा भी भारतवर्ष में जन्म लेने की कल्पना तक दृश्यमान है।[2] मानवमात्र के कल्याण की कामना से संबद्ध,[3] वैदिक ऋषि की दृष्टि में सर्वत्र, सर्वदिश, सर्वसमावेशी, सर्वस्वीकारयुक्ति, सर्वभद्र इच्छित विचार का सर्वतोमुखी आह्वान[4] भारतीय आर्ष परंपरा का वैश्विक शंखनाद है। इस विचार-स्वागत व्यवस्था में अपरीक्षित, उद्भिद् तथा अदब्ध विचार भी सम्मिलित हैं। इसमें भद्र कामना की पूर्वावश्यकता है। वैचारिक समानता अथवा एकरूपता की कोई अपेक्षा नहीं है। मूल में यह भाव अवस्थित है कि सत्य के अनुसंधान के अनेकानेक मार्गों के उपस्थित होने पर भी सत्य की विशिष्टता निर्दोष है।[5] इसीलिए समाज, राज्य, प्रशासन, शासक, मनुष्य, पशु, पक्षी, जलाशय, नदी, आकाश, वायु, पर्जन्य, अग्नि, पृथिवी, वनस्पति, औषधि आदि सबमें वैविध्य की सहज स्वीकार्यता परिणामत: सबमें सहज स्वाभाविक एकत्व तथा प्रच्छिन्न एकात्मता का भौतिक प्रकटीकरण मात्र है। इसीलिए, वर्तमान समाजों की भाँति राजनीति, प्रशासन, सरकार, संविधान, आदि का पृथकत: वर्णन अकल्पनीय है। मानव जीवन को समग्र समष्टि से संश्लिष्ट एवं मूलत: आबद्ध मानने के सुपरिणाम दृष्टि की व्यापकता और समस्त भू-पारिस्थितिकी तथा जैव-विविधता के साथ समन्वय, सहयोग, सामंजस्य तथा संतुलन में प्रतिबिंबित होते रहे हैं। इसीलिए भारतीय ज्ञान-परंपरा में समान्यत: विषय-विभाजन, अनुशासन-वर्गीकरण, तथा ज्ञान-क्षेत्र-विभेदीकरण अनुपस्थित हैं। भारतीय समाज-चिंतन समग्रता में उपलब्ध है। मानव-जीवन के शारीरिक, मानसिक, आध्यात्मिक, बौद्धिक, आदि सभी आयामों पर विशद समष्टि के परिप्रेक्ष्य में विचार करना और सूत्र-रूप में आचरण तथा व्यवहार में वांछनीय अपेक्षाओं को धर्म के रूप में प्रस्तुत करना भारतीय ज्ञान-परंपरा का महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। इस दशा में साधारणत: धर्म को आधुनिक संदर्भों में उपासना-पद्धति का पर्याय मानने के अभ्यास ने भारतीय धर्म के विचार के संबंध में असह्य संभ्रम उत्पन्न किया है जो सामान्य नागरिकों तक सीमित नहीं है अपितु नीति-नियंताओं, प्रशासकों, जनप्रतिनिधियों, न्यायाधिकरणों, विश्वविद्यालयों तथा बुद्धिजीवियों में समान रूप से विद्यमान है। इसका एक प्रत्यक्ष दुष्परिणाम यह भी हुआ है कि वैदिक-काल से आज तक अनेकानेक क्रूर, विध्वंसक, हिंसक, आततायी, निरंकुश, अत्याचारी, दुर्दांत, असभ्य, असहिष्णु और दमनकारी आक्रांताओं से पददलित होने, अनवरत लूटे जाने, हिंस्रित होने, उत्पीड़ित होने तथा मतांतरित होने पर भी जो एक तंतु भारतीय संस्कृति को जीवित रख सका, उसी धर्म की अनर्थकारी परिभाषा तथा अश्लील व्याख्या आधुनिक भारत की समादृत शिक्षा संस्थानों के विमर्श, संवाद और अनुसंधान में प्रचरित हो गई। इसीलिए आधुनिक भारत ने अपने शिक्षा संस्थानों में, शोध के विषयों, प्रकल्पों तथा परियोजनाओं में, समाज विज्ञानों की पाठ्यवस्तु में धर्म की अनुपस्थिति को सायास सुनिश्चित किया। इसने सामान्य भारतीय विद्यार्थी की दृष्टि को अवरुद्ध किया तो शिक्षकों की औपनिवेशिक दासता-ग्रंथि को सुदृढ़ किया। प्रशासकों की पाश्चात्य-निर्भरता को पल्लवित किया तो राजनीति की दिशा-शून्यता को पोषित किया। इसलिए प्राचीन भारतीय ज्ञान-वैभव तथा धर्म के विचार को विद्या-संस्थानों से बहिष्कृत किया जाना एक सामान्य-सी घटना बनकर रह गया। वस्तुत: आज स्वतंत्रता के अमृत-काल में भी प्राचीन भारतीय ज्ञान-परंपरा के समकालीन उपादेय तत्त्वों पर गंभीर वैचारिक अनुसंधान तथा अकादमिक अभिव्यक्ति विश्वविद्यालयों तथा अकादमिक संस्थानों में पर्याप्त साहस का कार्य बना हुआ है।

इसी पृष्ठभूमि में यह विचार-योग्य प्रश्न है कि समाज की समग्र वैश्विक दृष्टि तथा भूत, भविष्य और वर्तमान के सम्यक्, संतुलित और समदर्शी विवेचना-भाव से संयुक्त भारतीय ज्ञान-परंपरा ने राज्य, शासन तथा सुशासन के जिन सीमा-चिह्नों का अंकन किया था, उन्हें एक बार आधुनिक संदर्भों तथा परिप्रेक्ष्य में पुनर्प्रस्तुत किया जाना चाहिए अथवा नहीं। वस्तुत: भारतीय समाज वैज्ञानिकों के स्वातंत्र्योत्तर-कालीन समुदाय ने स्वयं को राष्ट्रीय आंदोलन के समय के समाज-वैज्ञानिकों की चिंताओं और प्रश्नों से भी सतर्क रूप से पृथक् कर लिया है। इसीलिए यह प्रश्न संभव भी हुआ है। अन्यथा पश्चिम की औपनिवेशिक पराधीनता के काल में भी भारतीय मेधा ने पारंपरिक ज्ञान सागर का यथासंभव और यथाशक्ति मंथन कर अनेकानेक रत्न आविष्कृत किए जो आज भी हमारा पथ आलोकित करने में समर्थ सिद्ध हो रहे हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् उत्पन्न व्यवधान का विस्मरण करते हुए यह ध्यान रखना समीचीन होगा कि उस विचार-शृंखला को निरंतरता प्रदान करते हुए भारतीय चिंतन परंपरा का सतत अवगाहन किया जाए और समकालीन भारतवर्ष के लिए उपादेय मौक्तिक-मणि सार्वजनिक रूप से विमर्श हेतु उपस्थित की जाएँ।

इस दृष्टि से भारतीय राजनैतिक चिंतन परंपरा के मूल तत्त्वों का चिह्नांकन विभिन्न राजनैतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत भी किया गया है। साथ ही सुशासन की आधुनिक अवधारणा के दृष्टिपथ से प्राचीन भारतीय राजनैतिक चिंतन परंपरा का सम्यक् शोधपरक अनुशीलन किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है।

तत्त्वतः आधुनिक अवधारणा के रूप में सुशासन का विचार एक सरल, नैतिक, उत्तरदायी, संवेदनशील, तथा पारदर्शी शासन की आकांक्षा है।[6] इसकी परिधि में विधि के शासन का प्राधान्य, समतामूलकता, सांविधानिकता, शासकीय उत्तरदायित्व, नीतिगत समावेशिता, सांस्थानिक वैधता, वृहद जनस्वीकार्यता तथा वैविध्यपूर्ण सहजीविता के सिद्धांत विद्यमान हैं।[7] इन सभी उपकरणात्मक उपादानों की सैद्धांतिकी सतत-संपोष्य-विकास-लक्ष्यों की संरचना में प्रबलतम अभिव्यक्ति प्राप्त करती है।[8] प्रथम और द्वितीय विश्व युद्ध के कालखंड में साम्राज्यवादी अनैतिकता की अतिव्याप्ति ने औपनिवेशिक दुर्दमन और शोषण के परिणामस्वरूप पारंपरिक क्षेत्रीयताओं को सायास विनष्ट होते हुए देखा। साथ ही सभ्यताओं के प्रयत्नपूर्वक तिरस्कार से असुरक्षित देशों और राष्ट्रों का प्रादुर्भाव हुआ। अतः अधिकांश सद्य-स्वतंत्र देशों की व्यवस्थाएँ गत छह-सात दशकों से आज तक लड़खड़ा रही हैं। परंतु भारतवर्ष की वैचारिक और बौद्धिक अस्मिता अद्यतन अप्रतिहत स्थित है। इसके कारणों की समीक्षा का इतः अवकाश न होने पर भी यह कहना उपयुक्त होगा कि भारतवर्ष की अंतर्भूत चिति आक्रमणों, प्रहारों तथा उत्पीड़नों से सर्वथा अस्पृष्ट होकर सतत ऊर्ध्वशिख ज्योति के समान इसीलिए जाग्रत रह सकी क्योंकि इसे किसी राजकीय प्रश्रय, राजसी सत्ता-आश्रय अथवा प्रशासनिक अभय की न तो वांछा थी और न ही आवश्यकता। यह तो धर्म की अंतः सलिला में अनुस्यूत बिंदु-प्रवाह के रूप में भारत की मनीषा का उद्घोष करती रही। इसीलिए यह भी समझना आवश्यक है कि भारतवर्ष में राजनीति, समाज, अध्यात्म, दर्शन, अर्थ, काम, वाणिज्य, व्यापार, व्यवसाय, शासन, प्रशासन, अध्यापन, अध्ययन, आदि सभी मानव-व्यवहार धर्म-संचालित, धर्म-मर्यादित, धर्म-नियंत्रित, धर्म-प्रभावित तथा धर्म-स्वीकृत ही हो सकते थे। अतः मानव जीवन के प्रत्येक आयाम का पृथक् धर्म वर्णित भी किया गया और उस पर निरंतर विमर्श और शास्त्रार्थ ने उसे स्थैतिक नहीं रहने दिया अपितु अनवरत परिष्कृत और परिमार्जित भी किया। साथ ही किसी भी आयाम को पृथक् न मानकर समग्रता में स्वीकार किया गया और मानव की जीवन-यात्रा को धर्म-यात्रा माना गया। पुरुषार्थ-चतुष्टय की संकल्पना ने मनुष्य के जीवन के विभिन्न पक्षों का अद्भुत समन्वयकारी सिद्धांत प्रस्तुत किया। इसी विचार को भारतवर्ष के विशिष्ट योगक्षेम के सिद्धांत के जन्म का श्रेय भी प्राप्त है। योगक्षेम की सर्वप्रथम कल्पना शुक्ल यजुर्वेद के वैदिक राष्ट्रगान में सशक्ततम रूप में उपस्थापित होती है जहाँ वेद का ऋषि संपूर्ण राष्ट्र में सुशासन की श्रेष्ठतम-संभव परिकल्पना एक प्रार्थना के माध्यम से प्रस्तुत करता है। वह राष्ट्र के सर्वतोमुखी उत्कर्ष, वैभव, ऐश्वर्य, समृद्धि, सुख, संपन्नता तथा सामर्थ्य की कामना करता है। यह मूलतः सुशासन की भारतीय संकल्पना का मूल आधार है।[9] हे ब्रह्म! हमारे देश में विद्वान ब्रह्मतेज से युक्त तथा समस्त ग्रंथों के ज्ञान से दैदीप्यमान हों। शासक पराक्रमी, शस्त्र में निपुण, शूरवीर, महारथी तथा शत्रुओं को उद्विग्न करने वाले हों। आंतरिक तथा बाह्य शत्रुओं से युद्ध तथा राष्ट्र की रक्षा में सन्नद्ध वीर हों। प्रभूत दुग्धदायी गोवंश हो। भारवाही बैल हों। शीघ्रगामी अश्व हों। बुद्धिमती रक्षा-कुशल स्त्रियाँ हों। इस कर्मशील राष्ट्र के युवक सभा-संचालन में कुशल, विजयशील, रथगामी हों। विद्या, यौवन तथा राष्ट्र-रक्षा प्रवीण संतानें हों। राष्ट्र में इच्छा आवश्यकतानुसार वृष्टि हो। औषधियाँ फलवती हों। अन्न पक कर उपभोग-योग्य हों। राष्ट्र के प्रत्येक मनुष्य का योग और क्षेम उसके उपभोग हेतु पर्याप्त हो। हमारा योगक्षेम सिद्ध हो। यह समग्र भद्र विचार भारतीय राज्य एवं राजनीति के दर्शन का उत्स है। यह भारतवर्ष की विश्व को अप्रतिम देन है। यह विश्वकल्याण की भारत की अद्भूत दृष्टि है। यह वसुधैव कुटुम्बकम् का प्रारंभिक शंखनाद है। यह राज-व्यवस्था से सामूहिक सामुदायिक अपेक्षाओं का नागरिक मांगपत्र है। यह भारतवर्ष की आर्ष मनीषा का अभिलाषा-ज्ञापन है। यह शासन-प्रशासन का दिशा-निर्देश है। यह नियमों-प्रविधियों का वांछित प्रतिफल है। यह सुशासन का भारतीय मंत्र है।

इसी विचार को वैदिक सहित्य अपनी तत्कालीन सांस्थानिक संरचनाओं, प्रशासनिक प्रक्रियाओं, राजनैतिक उपकरणों, विधिक व्यवस्थाओं और पदानुक्रम योजनाओं में प्रतिबिंबित करता रहा है। सभा, समिति, विदथ, जनपद, ग्रामणी, विश आदि की निरंतर सक्रिय उपस्थिति भारतीय वैदिक परंपरा में सुशासन को सुनिश्चित करने के लिए अभिकरणों की सर्जना को भी उपयुक्त स्वीकार्यता प्रदान किए जाने का प्रमाण है। परवर्ती काल में राजत्व को दैवीय सम्मान प्रदान किए जाते हुए भी सामाजिक उत्तरदायित्व की अपरिहार्यता को धर्म की मर्यादा से संयुक्त किए जाना शासन को श्रेष्ठ अभिलषित शासन में परिवर्तित किए जाने की शुभाशंसा की आश्वस्ति है। औपनिषदिक कालखंड अपनी चमत्कारी आध्यात्मिकता और परा-भौतिकता के बाद भी समाज विमुख नहीं है। अतः राजत्व की ज्ञान-गुरुता, सत्यान्वेषकता, परदुःखकातरता, संवेदनशीलता, सर्वसुलभता और सहदयता का प्रभूत वर्णन तथा उल्लेख भारतीय सुशासन संकल्पना का सम्बल है। महाकाव्यों में भारतीय समाज संरचना की दर्पणवत् प्रस्तुति भारतवर्ष के इतिहास, दर्शन, कौशल, शिल्प, युद्ध, धर्म, मर्यादा, आचरण, संस्था, राजनीति, प्रशासन, जनमत, शिक्षा, विद्या, गुरुकुल, सभा, व्यवसाय, वाणिज्य, आदि का अविस्मरणीय प्रतिबिम्ब है। यह भारत की सर्वाधिक समादृत, अपेक्षित, ईप्सित, वांछित, सम्मानित और स्वीकृत राज्य सुशासन व्यवस्था को राम-राज्य की संकल्पना के रूप में प्रस्तुत करने का उत्स भी है। यह वनवासी राम द्वारा कोसल-नरेश भरत से कुशल जानने के पश्चात् प्रजा में सम्यक् न्याय के विषय में प्रश्न पूछने का प्रस्थान बिंदु भी है।[10] राम अयोध्याकांड के 100वें सर्ग में भरत से अनेक राजनीति-विषयक प्रश्न पूछते हैं, उनसे यह विदित होता है कि राजाओं से किस प्रकार के आचार-व्यवहार की अपेक्षा की जाती थी। उन्होंने पूछा-"तुम समय पर जाग जाते हो? रात के पिछले प्रहर में अर्थ-सिद्धि के उपायों पर विचार करते हो? तुम अकेले या अधिक व्यक्तियों के साथ तो गुप्त-विषयों पर विचार नहीं करते?

तुम्हारा विचारा हुआ गुप्त-मंत्र समूचे राष्ट्र में फैल तो नहीं जाता? जिसका साधन बहुत छोटा और फल बहुत बड़ा हो, ऐसे कार्य का निश्चय करने के बाद तुम उसे शीघ्र प्रारंभ कर देते हो? उनमें विलंब तो नहीं करते? तुम्हारे सब कार्य पूर्ण हो जाने पर अथवा पूरे होने के समीप पहुँचने पर ही दूसरे राजाओं को ज्ञात होते हैं? कहीं ऐसा तो नहीं कि तुम्हारे भावी कार्यक्रम को वे पहले ही जान जाते हों? तुम्हारे निश्चित किए हुए विचारों को, तुम्हारे या मंत्रियों के प्रकट न करने पर भी, दूसरे लोग तर्क और युक्तियों के द्वारा तो नहीं जान लेते? तुम्हें और तुम्हारे अमात्यों को दूसरे के गुप्त विचारों का पता लगता रहता है? जिन शत्रुओं को तुमने राज्य से निकाल दिया है, वे यदि फिर लौटकर आते हैं तो तुम उन्हें दुर्बल समझकर उनकी उपेक्षा तो नहीं करते? काम-काज में लगे सभी लोग निडर होकर तुम्हारे सामने आते तो हैं? अथवा सदा तुमसे दूर तो नहीं रहते? मध्यम स्थिति का अवलंबन करना ही अर्थ-सिद्धि का कारण होता है। नास्तिकता, असत्य-भाषण, क्रोध, प्रसाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानी पुरुषों का संग न करना, आलस्य, नेत्र आदि पाँचों इंद्रियों के वशीभूत होना, राज्य-कार्यों के विषय में अकेले ही विचार करना, विपरीत बुद्धिवाले मूर्खों से सलाह लेना, निश्चित किए हुए कार्यों को शीघ्र प्रारंभ न करना, गुप्त मंत्रणा को प्रकट कर देना, मांगलिक कार्यों का अनुष्ठान न करना तथा सब शत्रुओं पर एक ही साथ चढाई कर देना, ये राजाओं के जो चौदह दोष हैं, तुम इनसे दूर रहते हो? दशवर्ग, पंचवर्ग, चतुर्वर्ग, सप्तवर्ग, अष्टवर्ग, त्रिवर्ग, तीन विद्या, छह गुण, इंद्रिय-निग्रह, दैवी और मानुषी बाधाएँ, राजा के नीतिपूर्ण कार्य, विंशतिवर्ग, प्रकृतिमण्डल, यात्रा (शत्रु पर आक्रमण), दंड-विधान (व्यूह-रचना), तथा संधि और विग्रह, इन सबकी ओर तुम यथार्थ रूप से ध्यान तो देते हो?"[11] यह युद्धक्षेत्र में उत्तरायणी सूर्य की प्रतीक्षा करते शरशैया पर लेटे भीष्म पितामह द्वारा युधिष्ठिर को राजधर्म का विस्तृत उपदेश देने का कारक भी है। यह भारतवर्ष में शासकों की मर्यादाओं का सार्वजनिक प्रज्ञापन भी है। यह सुशासन की समस्त संकल्पनाओं के अद्यतन अस्पृष्ट पक्षों का उद्घाटन भी है। यह भारतीय राजनैतिक प्रशासनिक विचार का सार्वकालिक उद्घोष भी है।

प्राचीन भारतीय चिंतन में शासन की वैधता अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बिंदु थी। यह वैधता व्यापक जन-सहमति तथा निर्णयों की वृहद् समाज द्वारा स्वीकृति पर आधृत थी। शासकीय व्यवस्था की औचित्यपूर्णता की आवश्यकता को वैदिक साहित्य में भी प्रमुखत: स्वीकार किया गया है। राज व्यवस्था अपनी वैधता आनुवंशिकता अथवा परंपरागत सत्ता-अधिष्ठान से प्राप्त नहीं करती थी अपितु राजकीय आज्ञाओं, नीतियों, नियमों, आदेशों तथा क्रियाकलापों को सामान्य-जन द्वारा प्रदत्त स्वीकृति से प्राप्त करती थी। इसलिए सामान्य जन शासन की इच्छा करे-यह प्रार्थना वेद में भी की गई है।[12] प्राचीन भारतीय समाज-चिंतन में विधि के शासन को अतीव महत्ता प्रदान की गई है। विधि की सर्वोच्चता को सभी महत्त्वपूर्ण विचारकों ने रेखांकित किया है। विधि के सम्यक् प्रयोग तथा उसके उल्लंघन पर दंड निर्धारण राज व्यवस्था का मुख्य दायित्व माना गया। साथ ही विधि के अनुप्रयोग में भेदभाव की अनुपस्थिति, प्रजावर्ग में शासन की सांविधानिकता का विशेष स्थान व सम्मान, सभी को राज-निर्णयों के अनुपालन का निर्देश तथा सब प्रकार से राजकीय निर्देशों की स्वीकार्यता, आदि विधि के शासन की सर्वत्र उपस्थिति के प्रमाण हैं। इसीलिए राजाओं के गुणों के वर्णन में उक्त अपेक्षाएँ सम्मिलित की गई है।[13] वाल्मीकि रामायण शासकों से सुशासन सुनिश्चयन में यह अपेक्षा करती है कि इंद्रियों का संयम, मन का निग्रह, क्षमा, धर्म, धैर्य, पराक्रम, सत्य, अपराधियों को दंड देना, ये राजा के गुण हैं। राजाओं को स्वेच्छाचारी नहीं होना चाहिए। नीति और विनय, दंड और अनुग्रह इनका अविवेकपूर्ण उपयोग करना उनके लिए उचित नहीं। उन्हें अनावश्यक संकीर्णता तथा हिंसा से बचना चाहिए। राजनीति की भारतीय परंपरा में राजा के चयन, नियुक्ति, अभिषेक, शपथ-ग्रहण आदि का विस्तृत वर्णन उपलब्ध हैं। इस सबमें एक व्यवस्थित, निर्धारित तथा औपबंधिक स्वरूप विद्यमान होना दृष्टिगोचर होता है। राजा के अतिरिक्त अमात्यों, मंत्रियों तथा सचिवों की नियुक्ति, योग्यताओं, निर्योग्यताओं, पदानुक्रम, दायित्वों तथा कार्यक्षेत्रों के भी सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा वृहत्तर विवरण प्राचीन भारतीय चिंतन में प्राप्त होते हैं।[14] अमात्यों में क्या-क्या गुण होने चाहिए, इसका पता हमें राम के उस उपदेश से चलता है, जो उन्होंने भरत को चित्रकूट पर दिया था। उन्होंने कहा- "क्या तुमने अपने ही समान शूरवीर, शास्त्रज्ञ, जितेंद्रिय, कुलीन और बाहरी चेष्टाओं से मन की बात समझ लेने वाले सुयोग्य व्यक्तियों को ही अमात्य बनाया है? अच्छी मंत्रणा ही राजाओं की विजय का साधन है। नीति-शास्त्र के ज्ञाता एवं मंत्र को गुप्त रखने वालों में श्रेष्ठ अमात्यों द्वारा ही राजा भली-भाँति सुरक्षित रहता है। मेधावी, शूरवीर, चतुर एवं नीतिज्ञ अमात्य यदि एक भी हो तो वह राजा या राजकुमार को बहुत बड़ी संपत्ति प्राप्त करा सकता है। तात, तुमने प्रधान व्यक्तियों को प्रधान, मध्यम श्रेणी के मनुष्यों को मध्यम और छोटी श्रेणी के लोगों को छोटे कार्यों में ही नियुक्त किया है न? जिनकी भली-भाँति परीक्षा कर ली गई है, जो पुरखों के समय से ही काम करते आ रहे हों, तथा जो बाहर-भीतर से पवित्र और श्रेष्ठ हैं, ऐसे अमात्यों को तुम उत्तम कार्यों में नियुक्त करते हो।"

प्राचीन भारतीय राज्य चिंतन अपने मूल स्वभाव, प्रकृति तथा चरित्र में लोकतांत्रिक है। लोकतंत्र शब्द का प्रयोग भी अनेकानेक स्थानों पर उपलब्ध है।[15] राजधर्म को प्रजा-रंजन की अनिवार्यता से संबद्ध किया गया है। लोकतांत्रिक मूल्यों के संरक्षण का दायित्व धर्म की वरेण्यता के रूप में उपस्थित है।[16] सबका सुख, सबका हित, सबका कल्याण तथा सबकी शांति की वृहत्तम कल्पना भारतीय राजनैतिक चिंतन के मूल में विद्यमान है।[17] भारतीय समाज-चिंतन राजनैतिक तथा प्रशासनिक व्यवस्था को कभी भी स्वेच्छाचारी अथवा अनियंत्रित नहीं होने देता है। दोनों महाकाव्यों में प्रत्येक स्तर पर संपूर्ण शासन को उत्तरदायी बनाए जाने को सुनिश्चित किया गया है।[18] राजा तथा समस्त राज्य अधिकारियों पर धर्म, नैतिकता, लोकाचार, परंपरा, समाज, विधियों

की मर्यादा, आदि का नियंत्रण विद्यमान है। अतः शासन को वृहत् समाज के प्रति अपने सांस्थानिक तथा व्यक्तिगत दायित्व का बोध प्रतिक्षण रहता है। समाज के ज्ञानवृद्ध, विद्यावृद्ध, अवस्थावृद्ध, अनुभववृद्ध तथा प्रतिष्ठावृद्ध व्यक्ति भी प्रायः व्यवस्थाओं से प्रत्यक्ष प्रश्न पूछते रहते हैं और उन्हें अपने स्वधर्म का स्मरण कराते रहते हैं।[19] इसीलिए कहीं भी किसी भी शासक से कोई गुरुकुल का स्नातक, कोई वनवासी तपस्वी, कोई मार्ग में चलता लकड़हारा, कोई सभा में आहूत जुलाहा, कोई पुरोहित, कोई साधु, कोई जल पिलाती हुई स्त्री साधिकार प्रश्न कर सकती है। प्राचीन भारतीय चिंतन में राजनैतिक व्यवस्था के विभिन्न संस्थापरक उपकरणों का भी विस्तृत विवरणात्मक प्रावधान उपलब्ध है। वैदिक काल के साहित्य में विद्यमान सभा और समिति के विषय में विस्तृत उल्लेख विद्यमान हैं। इनके निर्णयों, प्रक्रियाओं, अधिकारों, कार्यक्षेत्रों तथा सीमाओं का भी व्यवस्थित वर्णन प्राप्त होता है। इनके अतिरिक्त विदथ, ग्रामणी, विश जनपद आदि का भी उल्लेख यत्र तत्र किया गया है। मंत्रिपरिषद तथा सचिव आदि का भी स्तरीकृत पदानुक्रम वर्णित है। अतः शासन कभी भी एक व्यक्ति केंद्रित नहीं था।[20] सामूहिक निर्णय और सामूहिक उत्तरदायित्व विद्यमान मूल्य थे। शासन की नीति-निर्माण की शक्तियों का सम्यक् पृथकीकरण भी भारतीय राज्य-नीति ज्ञान परंपरा में विद्यमान है। न्यायाधिकरणों का पृथकतः प्रावधान, शासन तथा विद्या के केन्द्रों की अकल्पनीय स्वायत्तता, वाणिज्य व्यापार के नियमों तथा प्रावधानों के अंतर्गत स्वतंत्र क्रियाकलाप परंतु राज्य का पर्यवेक्षण, दरिद्र, दुर्बल, अनाथ, असहाय, वृद्ध, बालक, स्त्री, रोगी, पीड़ित, आदि पर राज्य का विशेष ध्यान तथा अनुग्रह, धार्मिक क्रिया-कलापों और अनुष्ठानों में अहस्तक्षेप, आदि शक्ति-पृथक्करण के स्पष्ट सूत्र भारतीय चिंतन में उपलब्ध हैं। राज्य, राजनीति, राजधर्म, दंडनीति, शासन, प्रशासन, नीति, निर्णय, न्याय, व्यवहार, विधि, आदि के विषय में भारतीय ज्ञान परंपरा में एक सुविचारित, सुस्पष्ट तथा सुसंगठित श्रेणीबद्धता भी विद्यमान है। सप्तांग सिद्धांत इस तथ्य का प्रमाण है कि राज्य के सातों अंगों की पृथक् सत्ता, अस्मिता और स्थान है। वे परस्पर सहयोगी तथा पूरक हैं। परंतु कोई भी किसी के भी अधीन नहीं है। वे परस्पर निर्भर तो हैं परंतु परमुखापेक्षी नहीं हैं। वे सहकर्मी तो हैं परंतु परस्पर प्रतिस्पर्धी नहीं हैं। वे एक समग्र का अंग हैं। एक सावयव का अंश हैं। वे एक एकीकृत राज्य संस्था की समवेत प्रस्तुति हैं। भारतीय राजधर्म की परंपरा शासन को पारदर्शी तथा सामूहिक उत्तरदायित्व संपन्न भी बनाती है। इसीलिए निर्णयों को एकांत में अथवा अकेले लिए जाने का स्पष्ट निषेध किया गया है। निर्णयों की सामूहिकता की अनिवार्यता ही पारदर्शिता का सशक्त प्रमाण है। योग्य, विशेषज्ञ, विद्वान, कुशल तथा पारंगत व्यक्तियों को तत्संबंधी निर्णय प्रक्रिया का अंग बनाया जाना भी प्राविधानित है।[21]

प्राचीन भारतीय दंडनीति चारों विद्याओं (आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्ता, दंडनीति) में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानी गई है। वह अपनी महत्ता तथा वरेण्यता अराजकता के सर्वथा निषेध से प्राप्त करती है। यह महत्ता धर्म की स्थापना के व्यापक उद्देश्य, योगक्षेम की प्राप्ति तथा पुरुषार्थ-चतुष्टय की अवाप्ति के लक्ष्यों से निर्गत होती है। इसीलिए दंडनीति अलब्ध को प्राप्त कराने वाली, लब्ध का विवर्धन करने वाली, विवर्धित का संरक्षण करने वाली तथा संरक्षित को सुपात्रों में वितरित करने वाली विधा है।[22] इस विधा को सर्वविद्याओं में, सभी त्यागों में, सभी धर्मों में श्रेष्ठ तथा सभी कल्पनाओं की संस्थापना के लिए अपरिहार्य माना गया है।[23] प्राचीन भारतीय चिंतन में पर-राष्ट्र संबंधों के निर्धारण, संचालन तथा संवर्धन के विषय में विस्तार से विचार किया गया है। इसके अंतर्गत संधि, विग्रह, यान, आसन, संश्रय, द्वैधीभाव, आदि से संयुक्त षाड्गुण्य-नीति पर अनेकानेक विचारकों तथा चिंतकों ने सुस्पष्ट तथा सुव्यवस्थित विश्लेषण प्रस्तुत किया है। षाड्गुण्य-नीति वस्तुतः आधुनिक कूटनीति अध्ययन का मूल आधार तथा प्रस्थानबिंदु है। वाल्मीकि रामायण का राम-राज्य भारत की श्रेष्ठ राज्य की सर्वोत्कृष्ट परिकल्पना है। राम के गुणों के वर्णन में सर्वोत्तम राजा की विशिष्टताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। राम आत्मसंयमी, महापराक्रमी, तेजस्वी, धैर्यवान, आत्मनियंत्रित, बुद्धिमान् नीतिज्ञ, वक्तृत्व-संपन्न, श्रीयुत, शत्रुहंता, धर्मज्ञ, सत्यानुरागी, यशस्वी, ज्ञानसंपन्न, पवित्र, योगी, प्रजा के हित में सदैव संलग्न, वेद-वेदांग में पारंगत, तत्त्वज्ञानी, धनुर्वेद में निष्ठित, स्वधर्म के रक्षक, स्वजनों के रक्षण, स्निग्धवर्ण, प्रतापी, विशाल-वक्षी, आजानुबाहु, शुभलक्षणयुक्त, समुद्र के समान गाम्भीर्ययुक्त, हिमवान की भाँति धैर्यवान्, त्यागी, सत्यवादी, धर्मनिष्ठ तथा सुदर्शन आकृति वाले हैं। वाल्मीकि रामायण श्रेष्ठ राजा में इन्हीं चारित्रिक गुणों की अपेक्षा करती है।[24] वहाँ राजा से यह भी अपेक्षा की गई है कि वह प्रजा का रक्षण करे, दस्युओं का दमन करे तथा सज्जनों को सुरक्षा प्रदान करे।[25] राजा को चाहिए कि वह प्रजा का धर्मपूर्वक अनुरंजन करे।[26] राजा से धर्मज्ञ, कृतज्ञ, राजधर्मविशारद, विचक्षण तथा सर्वलोकप्रिय होने की अपेक्षा वाल्मीकि रामायण में की गई है।[27] भारतीय चिंतन परंपरा में सुशासन के लिए शासक की श्रेष्ठता का सुनिश्चयन अद्भुत है। इसीलिए राजा को कर्त्ता, गोप्ता, रक्षक, समस्त जगत का पिता, काल का स्वरूप, युग का कारक तथा संपूर्ण प्रजा का प्रतिनिधि माना गया है।[28] राजा को अपने मंत्रियों का चयन अत्यंत सतर्कतापूर्वक करना चाहिए। राम भरत के मंत्रियों के बारे में विस्तार से जानकारी प्राप्त करते हैं।[29] वाल्मीकि रामायण राजकर्मियों, अधिकारियों तथा अमात्यों के बारे में पर्याप्त सतर्कता से योग्यताएँ निर्धारित करती है[30] क्योंकि मंत्रिपरिषद ही राजा की हितकारिणी संस्था है।[31] वही विजय का मूल मंत्र भी है।[32] ऐसी स्थिति में सुशासन का चरमोत्कर्ष देखने को मिलता है जिसमें राम राज्य में सभी धर्मपरायण भाव से प्रमुदित रहकर जीवन जी रहे हैं।[33] राम को देखते हुए तथा उनका अनुसरण करते हुए परस्पर सहयोगी भाव से रह रहे हैं। यही भारतीय सुशासन की अवधारणा है। इसके अनेक तत्त्व आज भी प्रभूतरूपेण उपयोगी हैं जिनसे समकालीन राज व्यवस्था इंगित प्राप्त कर सकती है।

संदर्भ

1. यजुर्वेद, काठक संहिता
2. गायन्ति देवाः किल गीतिकानि धन्यास्तु ते भारतभूमि भागे। स्वर्गापवर्गापस्पदमार्गभूतः भवन्ति भूयः पुरुषः सुरत्वात्।। विष्णु पुराण 2.3.24
3. सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु नरामयाः। सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग् भवेत्।। *उपनिषद्*
4. आ नो भद्रा क्रतवो यन्तु विश्वतः। अदब्धासो, अपरीतासो उद्भिदः। ऋग्वेद
5. एकं सद् विप्राः बहुधा वदन्ति। ऋग्वेद
6. आधुनिक गुड गवर्नेन्स (सुशासन) की अवधारणा को स्मार्ट (सिम्पल, मॉरल, अकाउन्टेबिल, रिसपान्सिव, तथा ट्रान्सपेरेन्ट) आद्याक्षरों से भी अभिधानित किया गया है।
7. गुड गवर्नेन्स के प्रमुख तत्त्वों तथा बिंदुओं का अंकन आधुनिक अर्थों में इसी प्रकार किया गया है।
8. संयुक्त राष्ट्र द्वारा 17 सतत विकास लक्ष्यों को संकेतित किया गया है जो लगभग सभी राष्ट्रों ने शताब्दी लक्ष्यों के रूप में न केवल स्वीकार किए हैं। अपितु इन्हें अपनी नीति निर्माण प्रक्रियाओं का आधार भी बनाया है।
9. ऊँ आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायताम्। आ राष्ट्रे राजन्य शूरः इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम् दोग्ध्रीधेनुर्वोढानङ्वानाशुः सुप्ति पुरन्धिर्योषा जिष्णु रथेष्ठाः सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायताम्। निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो नः ओषधयः पच्यन्ताम्। योगक्षेमो नः कल्पताम्। शुक्ल यजुर्वेद, 22 (22)
10. वाल्मीकि *रामायण*, 2/100
11. वाल्मीकि *रामायण*, 2/100/17-21, 37, 52, 65-70
12. विशास्त्वा सर्वाः वांछन्तु। ऋग्वेद 10/173/1
13. साम दानं क्षमा धर्मः सत्यं धृतिपराक्रमौ। पार्थिवानां गुणा राजन् दंडश्चाप्यपकारिषु। नयश्च विनयश्चोभौ निग्रहानुग्रहावपि। राजवृत्तिरसंकीर्णा न नृपाः कामवृत्तयः। वाल्मीकि *रामायण*, 4 (17) 29-32
14. वाल्मीकि *रामायण*, 2/100/15-6, 24-6।
15. युधिष्ठिर धृतिर्दाक्ष्यं देशकाल पराक्रमः। लोकतंत्र विधानानामेष पंच विधोविधिः।। *महाभारत*, 3.162-1
16. धर्ममाचरतो राज्ञः सद्भिश्चरितमादितः। वसुधा वसुसम्पूर्णा वर्धते भूतिवर्धिनी।। विदुरनीति 2 (28) धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परिपालयेत्। धर्ममूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते।। विदुरनीति 2(31)
17. लोकाः समस्ताः सुखिनो भवन्तु।
18. न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धाः न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्। नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति न तत् सत्यं यच्छलेनाभ्युपेतम् विदुरनीति 3 (58)
19. प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम्। कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य यः सम्पृच्छेन्न स मुह्येत् कदाचित् विदुरनीति 8 (23) यः काकमन्यू प्रजहाति राजा पात्रे प्रतिष्ठापयते धनं च। विशेषविच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी तं सर्वलोकः कुरुते प्रमाणम् विदुरनीति 1(109)
20. पौरकार्याणि यो राजा न करोति दिने दिने। संवृत्ते नरके घोरे पतितो नात्र संशयः।। वाल्मीकि *रामायण*, 7/53/6
21. जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान् विज्ञातदोषेषु दधाति दंडम्। जानाति मात्रां च तथा क्षमां च तं तादृशं श्रीर्जुषते समग्रा।। विदुरनीति-1 (110)
22. कौटिल्य द्वारा की गई दंडनीति की परिभाषा प्रकारान्तर से समस्त प्राचीन भारतीय साहित्य में प्राप्त होती है। कौटिल्य के अनुसार दंडनीति- अलब्ध लाभार्था, लब्ध परिरक्षिणी, रक्षित विवर्धिनी, तीर्थषु वृद्धेषु प्रतिपादिनी च - है।
23. सर्वे धर्माः राजधर्मेषु प्रोक्ताः।
24. नियतात्मा महावीर्यो द्युतिमान् धृतिमान् वशी। बुद्धिमान् नीतिमान् वाग्मी श्रीमान् शत्रुनिबर्हणः।। वाल्मीकि रामायण, 1/1/89 धर्मज्ञः सत्यसंधश्च प्रजानां च हितेरतः। यशस्वी ज्ञानसम्पन्नः शुचिर्वश्यः समाधि मान् वाल्मीकि *रामायण*, 1/1/12 रक्षिता स्वस्य धर्मस्य स्वजनस्य च रक्षिता। वेद वेदांग तत्त्वज्ञो धनुर्वेदे च निष्ठितः।। वाल्मीकि *रामायण*, 1/1/14 विपुलांसो महाबाहुः कम्बुग्रीवो महाहनुः। वाल्मीकि रामायण, 1/1/9 महोरस्को महेष्वासो गूढजत्रुररिन्दमः। आजानुबाहुः सुशिरा सुललाट सुविक्रमः।। वाल्मीकि रामायण, 1/1/10 समः समविभक्ताङ्गः स्निग्धवर्णः प्रतापवान्। पीनवक्षः विशालाक्षो लक्ष्मीवान् शुभलक्षणः।। वाल्मीकि *रामायण*, 1/1/11 विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रियदर्शनः कालाग्नि सदृशः क्रोधे क्षमया पृथिवीसमः।। धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म द्विवापरः।। वाल्मीकि *रामायण*, 1/1/18 समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव। वाल्मीकि *रामायण*, 1/1/17
25. रक्षितव्या प्रजा राज्ञा रक्षितव्या द्विजातयः। दस्यवश्च निहन्तव्या परिपाल्याश्च साधवः।। वाल्मीकि रामायण, 5/100/33
26. राजाऽपि धर्मेणेव तदा रे्जयन सुनयै प्रजाः। वाल्मीकि *रामायण*, 1/17/20
27. सर्वलोकप्रियः साधुरदीनात्मा विचक्षणः। वाल्मीकि *रामायण*, 1/1/14 धर्मज्ञश्च कृतज्ञश्च राजधर्मविशारदः। वाल्मीकि *रामायण*, 5/52/7
28. राजा कर्त्ता च गोप्ता च सर्वस्य जगतः पिता। राजा कालो युगं चौव राजा सर्वमिदं प्रजाः।। वाल्मीकि *रामायण*, 2/7/4
29. कच्चिदात्मसमाः शूराः श्रुतवन्तो जितेन्द्रियाः। कुलीना चेङ्गितज्ञा च कृतास्ते तातमन्त्रिणः।। वाल्मीकि *रामायण*, 2/100/15
30. सन्धिविग्रह तत्त्वज्ञाः प्रकृत्या सम्पदान्विताः। मंत्रसंवरणे शक्ताः शक्ताः सूक्ष्मासु बुद्धिषु।। नीतिशास्त्रविशेषज्ञाः सततं प्रियवादिनः। वाल्मीकि *रामायण*, 1/7/18-19 कुशलाः व्यवहारेषु सौहृदेषु परीक्षिताः। वाल्मीकि *रामायण*, 2/100/26
31. हितं मंत्रयते राज्ञस्तेन मन्त्री निगद्यते। वाल्मीकि *रामायण*, 5/100/8
32. मन्त्रो विजयमूलं हि राज्ञां भवति राघव। वाल्मीकि *रामायण*, 2/100/16
33. सर्व मुदितमेवासीत् सर्वो धर्मपरोऽभवत्। राममेवानुपश्यन्तो नाभ्यहिंसन् परस्परम् वाल्मीकि *रामायण*, 6/128/100

प्रो. विश्वनाथ मिश्र

भारत एवं यूरोप के राष्ट्र तथा राष्ट्रवाद का विमर्शीय आरेखन

भारत की ही तरह यूरोप में भी ग्रीक सभ्यता के समय से ही राष्ट्रवाद का विचार रहा है, लेकिन यूरोप इस संबंध में अपने मूल विचार को अप्रतिहत बनाए नहीं रख सका। एक विश्लेषण

सार-पत्र

प्रस्तुत शोध पत्र भारत एवं यूरोप के राष्ट्रवाद को तथ्यों और उनके समीक्षात्मक विश्लेषण के आधार पर समझने का एक प्रयास है जिसमें राष्ट्रवाद को पूर्व आधुनिक विचार के रूप में स्वीकार किया गया है। इस पत्र का प्रतिपाद्य यह है कि भारत की तरह ही ग्रीक सभ्यता के समय से ही यूरोप में राष्ट्रवाद का विचार प्रचलित रहा है। किंतु, यूरोप अपने तीन आत्म-विभाजनों के कारण अपने मूल राष्ट्रवाद को अप्रतिहत नहीं बनाए रख पाया। ज्ञानोदय के बाद यूरोप में राज्य आधारित राजनैतिक राष्ट्रवाद का विकास हुआ और इसके अनेक दुष्परिणामों को दुनिया ने देखा। इसके विपरीत भारत ने अपने मूल राष्ट्रवाद को विचलन के समय में भी कभी ओझल नहीं होने दिया और अपने मानववादी स्वरुप को सदैव बनाए रखा।

संस्कृत भाषा में व्याकरण की दृष्टि से राज धातु में औणादिक "ट्रन प्रत्यय लगने से राष्ट्र शब्द की व्युत्पत्ति मानी जाती है। शाब्दिक अर्थ विन्यास की दृष्टि से यह राजते, दिव्यते, प्रकाशते एवं शोभते अर्थ का द्योतक है। इस अर्थ में राष्ट्र वह है जो स्वयं प्रकाशवान है। किंतु, इस शाब्दिक व्युत्पत्तिपरक अर्थ से राष्ट्र का बोधपरक अर्थ नहीं मिलता है। अत: इसके अर्थ विस्तार हेतु यह प्रश्न किया जाना चाहिए कि राष्ट्र स्व प्रकाशमान क्यों है। इस प्रश्न का प्रकाश निर्देशक सांस्कृतिक अर्थ[1] यह लगाया जा सकता है कि 'राजते शोभते धर्मार्थकाममोक्षानाम इति राष्ट्र:।' अर्थात धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थ की सिद्धि हेतु समवेत समुदाय राष्ट्र है। इस अर्थ में राष्ट्र जाति, संप्रदाय, वर्ग, गोत्र अथवा भूगोल सूचक नहीं है, अपितु मूल्यबोधात्मक एकता सूचक है। पाणिनि व्याकरण से पहले चलें तो ऋग्वेद के वाक्देवी सूक्त में राष्ट्र शब्द का आद्य उल्लेख मिलता है जो इसे पाणिनि व्याकरण से सिद्ध अर्थ से भी अधिक अर्थ - विस्तार देता है। जो इस प्रकार है : अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम। तां मा देवा व्यदधु: पुरूत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।[2]

इस सूक्त की द्रष्ट्रा (रचयिता) आम्भृण ऋषि की पुत्री वाक् हैं जो ब्रह्म साक्षात्कार के बाद अपनी सर्वात्मवादी दृष्टि (जड़-चेतन, चर-अचर सभी में ईश्वर को देखना) को अभिव्यक्त कर रही हैं। यहाँ राष्ट्री शब्द का प्रयोग विशेषण के रूप में हुआ है अर्थात जो राष्ट्र में रहता है। जो राष्ट्र में रहता है वह मैं (पराम्बा देवी) ही हूँ, इस आध्यात्मिक अनुभूति को ही वाक् ने वाक्देवी सूक्त में प्रकट किया है। यहाँ अंत में स्पष्ट कहा गया है कि मैं ही संपूर्ण प्राणियों के शरीर में जीवनरूप में अपने को प्रविष्ट कर रही हूँ। संपूर्ण विश्व के रूप में अवस्थित होने के कारण जो कोई जो कुछ भी करता हैं (भुरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम) वह सब मैं ही हूँ। राष्ट्र की इस अवधारणा में 'हम' और 'वे' का विभाजन नहीं है जैसा कि उस आधुनिक पश्चिमी राष्ट्र की अवधारणा में संकेतित है जो वेस्टफीलिया संधि 1648 से भौतिक रूप से उद्भूत माना जाता है और जिसकी 'नेशन' तथा 'नेशनलिज्म' शब्द से व्याख्या की जाती है।

वस्तुत: भारत में राष्ट्र और राष्ट्रवाद का यह ऋग्वैदिक संदर्भ उस आदर्श की अभिव्यक्ति है जिसे हम तर्कत: राष्ट्र और राष्ट्रवाद का अद्वैत वेदांती मत कह सकते हैं। जहाँ 'अहम ब्रह्मास्मि' में 'स्व' की अभिव्यक्ति है किंतु जहाँ 'पर' है ही नहीं अपितु वह भी 'तत्वमसि (तत् त्वं असि) अर्थात मैं ब्रह्म हूँ और तुम भी वही हो।

राष्ट्रवाद का यह एक महान आदर्श है जहाँ मानवता को अभी पहुँचना बाकी है। यहाँ तक पहुँचने के लिए चेतना के जिस मुकाम तक पहुँचने की अपेक्षा होती है वह सिद्ध योगियों के द्वारा ही संभव है। भारत में ही संस्कृत साहित्य का राष्ट्र विमर्श जब ऋग्वेद काल से आगे बढ़ता है तब अपने पूर्व वर्णित कलेवर को यथावत बनाए नहीं रखता है। शतपथ ब्राह्मण में 'श्रीर्वैराष्ट्रम' शब्द का उल्लेख मिलता है। अर्थात कीर्ति और यश राष्ट्र हैं। एतरेय ब्राह्मण में 'राष्ट्रानिवै विश:' शब्द का उल्लेख किया गया है, जिसका अर्थ है कि लोग (जनता) ही राष्ट्र है। शुक्र नीतिसार में 'स्थावंर जगमंवापि राष्ट्र शब्देन गीयते' का वर्णन है, जिसका अर्थ है कि राष्ट्र शब्द से स्थावर और जंगम तत्वों का भी बोध होता है। मनुस्मृति और कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य के सात अंगों में राष्ट्र को एक अंग बताया गया है, यहाँ राष्ट्र शब्द जनपद के रूप में प्रयुक्त हुआ हैं। पाणिनी की भैमी व्याख्या में ''गौडीय जनपदेषु'' शब्द का उल्लेख हुआ है। यहाँ 'गौड़ीय' नृजातीयता का और 'जनपद' प्रशासनिक इकाई का द्योतक हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि भारत के शास्त्रीय ग्रंथों में राष्ट्र शब्द का अनेक अर्थो में प्रयोग हुआ है। गीता के शांकर भाष्य के तर्कों की दृष्टि से देखें तो शरीर के लिए भी राष्ट्र शब्द व्यवहृत हुआ है। तथापि, संस्कृत साहित्य में वर्णित राष्ट्र शब्द का जो इसका अभिप्राय वाद से जुड़कर बनता है उसे समायोजित किया जाए तो यह 'वसुधैव कुटुम्बकम' के साथ जुड़ता है। जबकि पश्चिम का राष्ट्रवाद व्यक्तिवाद और राज्य आधारित राजनैतिक एकता से जुड़ता है।

नृजातीयता और प्रशासनिक इकाई के रूप में राष्ट्र शब्द का प्रयोग ग्रीक सिटी - स्टेट का समानार्थी हो जाता हैं। परंतु जिस तरह ग्रीक सभ्यता बाह्य आक्रमण से छिन्न-भिन्न होकर रोम साम्राज्य के रूप में प्रकट हुई वैसी परिणति भारतीय सभ्यता में नहीं हुई। महाजनपदकाल के गणराज्य राजनैतिक इकाई थे और राजनैतिक इकाई होने के नाते उनमें भौगोलिक एकता का दृढ विचार भी था जो प्राय: ऐसे ही दूसरे गणराज्यों की प्रसारवादी नीतियों का विरोधी भी था। निश्चयात्मक रूप से उस समय भी गणराज्यों के नागरिकों में राजभक्ति भी थी किंतु उनकी राजभक्ति राजवंश सूचक थी। तब राजभक्ति राष्ट्रवाद की सूचक नहीं थी। राजभक्ति को राष्ट्रवाद का सूचक व्यापक तौर पर आधुनिक काल में नाजीवादियों और फासीवादियों ने बनाया। भारत में गणराज्यों के नागरिकों में जो राजभक्ति थी उसे पहचान का एक कारक माना जा सकता है किंतु उनकी सांस्कृतिक एवं आध्यत्मिक भक्ति या निष्ठा एक बृहद इकाई के प्रति भी थी जिसे हम आज की शब्दावली में सेक्रेड जियोग्राफी या कल्चरल जियोग्राफी कहते हैं।[3]

भारतीय इतिहास की यह विशिष्टता रही है कि यहाँ देशज साम्राज्य निर्माण की प्रक्रिया ने सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक आस्था के बदलाव का काम नहीं किया और न ही सेक्रेड जियोग्राफी या कल्चरल जियोग्राफी से जुड़े लगाव को राजनैतिक आस्था से तिरोहित करने का कार्य किया। बल्कि यहाँ सेक्रेड जियोग्राफी या कल्चरल जियोग्राफी पर्यंत भू-भाग को राजनैतिक एकता में बाँधने का लक्ष्य रखा गया। उस लक्ष्य का प्रतीक ही चक्रवर्ती सम्राट की धारणा में निहित है। फलत: भारतवर्ष में सीमा अनुभूति (बाउंड्री परसेप्शन)[4] का अत्यंत स्पष्ट विचार भी रहा है।[5] परिणामस्वरूप महाजनपदों का पहले मगध और फिर बाद के अन्य साम्राज्यों में विलय नागरिक के रूप में राजनैतिक पहचान में परिवर्तन से अधिक कुछ नहीं था। भारत में साम्राज्य निर्माण की इस प्रक्रिया ने राजनैतिक निष्ठा के स्वरूप में बदलाव लाया। इससे क्षेत्रीय और नृजातीय राजनैतिक निष्ठा की प्रवृत्ति जन (सिविक) राजनैतिक निष्ठा में बदली और उसने धीरे-धीरे अखिल भारतीय स्वरूप ग्रहण करने की ओर कदम बढ़ाया। चूँकि इस संपूर्ण प्रक्रिया में न तो सांस्कृतिक निष्ठा में बदलाव का दबाव था और न ही इससे जातीय पहचान को बदलने का दबाव था अत: इस राजनैतिक रूपांतरण को जड़ जमाने में अधिक समय नहीं लगा। इसका महत्त्वपूर्ण कारण यह रहा है कि भारतवर्ष में समाज की सूक्ष्म गतिकी का प्रभाव हमेशा से राजनीति की स्थूल गतिकी से अधिक रहा है जिसका संबंध भारत की संस्कृति का मौलिक रूप से अराजनैतिक होना रहा है। संस्कृति के इस अराजनैतिक स्वरुप ने जब वृहद् राजनैतिक एकत्व के लिए अनुप्रेरक का काम किया तब भी इसने भौतिक बल और आध्यात्मिक बल के समन्वय का ऐसा मार्ग चुना जिसमें आध्यात्मिक बल की प्रमुखता थी और इन दोनों के समन्वित स्वरूप में ही राष्ट्र का पल्लवन किया गया है। इस सत्य को अथर्ववेद का यह मंत्र भी परिपुष्ट करता है :

भद्रमिछ्न्त ऋषय: स्वर्विद्स्तपो
दीक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजस्श्च जातं तदस्मै देवा
उपसन्नमंतु।।[6]

अर्थात आत्मज्ञानी ऋषियों ने सृष्टि के आरंभ में जो तप किया उस तप के प्रभाव से राष्ट्र के प्रति बल, सेवा, सृजन और ओज की भावना प्रकट हुई। अत: हम विनम्र भाव से राष्ट्र की सेवा करें। इस राष्ट्रबोध को हम सावयवी समाज का राष्ट्रबोध भी कह कह सकते हैं जो अपनी प्रकृति से ही यांत्रिक समाजों के राष्ट्रवाद से अलग होता है। उदाहरण के लिए हम राष्ट्र की सेवा क्यों करें इसका सावयवी समाज का का उत्तर यह है कि :

माता भूमि: पुत्रोअह्म पृथिव्या: पर्जन्य: पिता
स उ न: पिपर्तु।
यस्यां वेदिं परिग्रिहनन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं
तन्वते विश्वकर्मण:।।[7]

अर्थात पृथ्वी माता है और उर्जस्विता के लिए यज्ञ की वेदी भी है, इसलिए वह पूज्य है, यह भाव मातृ - भूमि (भू-भाग) के प्रति यांत्रिक समाजों में नागरिकता के गुणों में सन्निहित नहीं है। इसका कारण यह है कि आधुनिक यांत्रिक समाजों की नागरिकता अधिकारपरक है इसी कारण भूमि उपभोग्य है।

भारत के राष्ट्रवाद की तुलनात्मक मीमांसा यदि पश्चिम के राष्ट्रवाद से की जाए तो दोनों की विशिष्टता को रेखांकित करने में आसानी हो सकती है। आरंभ में यूरोप (प्रंसगवश ग्रीक समाज) सावयवी समाज है और वहाँ भी भारत के समान ही राष्ट्रबोध के अनेक विचार तथा उदाहरण हैं। ग्रीक समाज में प्रचलित राष्ट्रवाद का एक प्रबल उदाहरण पेराक्लिज के द्वारा दिया गया अंत्येष्ठी भाषण है जिसमें वे ग्रीक देवी की प्रतिमा हृदय में बसाने का आह्वान करते हैं।[8] किंतु अपने तीन आत्म विभाजनों से

गुजरते हुए यूरोप अपने राष्ट्रबोध के तात्विक स्वरूप को बनाए नहीं रख पाता है अपितु वह स्व को परिभाषित करने में बार-बार विचलित होता है। इसके विपरीत इतिहास के अनेक झंझावातों से गुजरते हुए भी भारत अपने मूल राष्ट्रवाद के पथ और स्व की 'अहम ब्रह्मास्मि' की धारणा से पथभ्रष्ट नहीं होता है। इस बदलाव को ग्रीक समाज के रूपांतरण के साथ तुलनात्मक रूप से समझने से कुछ अन्य गुत्थियां भी सुलझ सकती है। भारत में बहुदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर एक सतत गति रही है। यहाँ बहुदेववाद एकेश्वरवाद का विरोधी नहीं है। बल्कि एकेश्वरवाद भी बहुदेववाद का एक घटक बन जाता है। बहुदवेवाद के साथ एकेश्वरवाद को मानना एक ऐसे मानस को तैयार करता है जिसमें क्षेत्रीय निष्ठायें अखिल भारतीय निष्ठा में विलीन हो सकती हैं और अखिल भारतीय निष्ठाओं का क्षेत्रीय प्रतिरूप भी तैयार हो सकता है। यह मानसिक सहजता या ऐसी मानसिक बनावट ग्रीक लोगों में नहीं थी। सुकरात को मृत्युदंड देने के पीछे जो धार्मिक कारण है वह बहुदेववादियों के बीच एक नये देवता का विचार प्रस्तुत करने के दोष से जुड़ा है, जो एकेश्वरवाद की ओर जाता है। परंतु, ग्रीक मन उस एक नये देवता को बहुदवेवादी मान्यता का प्रतिरोधी मानता है। यह मन जल्दी से एक क्षेत्रीय निष्ठा को त्यागकर विजातीय और व्यापक निष्ठा को स्वीकार नहीं करता है।

फलतः ग्रीक मन साम्राज्य की एकता में निष्ठा के लिए लंबे समय तक इंतजार करता है और वैचारिक रूप से प्राकृतिक विधि का शरण लेता है। सिसरो के चिंतन में राज्य को सामूहिक संस्था बताकर इसी लक्ष्य की प्राप्ति का प्रयास हुआ है। सिसरो जब यह कहते हैं कि जनता का निर्माण तब होता है जब मनुष्य पर्याप्त संख्या में एक-दूसरे के नजदीक जाएँ,[9] तब सिसरो का उक्त कथन राष्ट्र की ही अनुभूति का प्रतीक है। टायबेरियस ग्रेचस के प्रयत्नों में भी यह भाव देखा जा सकता है, यदपि उसके प्रयत्नों को सफलता नहीं मिली।[10] दूसरी ओर भारत में साम्राज्य निर्माण ने तीर्थों और पवित्र नदियों तक आम जनता की पहुँच को सुरक्षा की दृष्टि से अधिक सुगम बना दिया। ऐसा इसलिए कि विभिन्न गणों के बीच से गुजरते हुए जाने की अपेक्षा एक साम्राज्य में राजनैतिक संरक्षण के बीच यात्रा करना अधिक आसान हो जाता है। फलतः जल तीर्थ, वैष्णव तीर्थ, शाक्त तीर्थ आदि की ऐसी परंपरा विकसित हुई जिसने साम्राज्यों के विघटन के काल में भी सेक्रेड जियोग्राफी और सेक्रेड कल्चर तथा इससे जुडी इमेजिंड कम्यूनिटी से लगाव के ताने-बाने को टूटने नहीं दिया।[11]

रोम साम्राज्य में टायबेरियस ग्रेचस के समय जिस ट्वेल टेबल का प्राकृतिक न्याय की धारणा के अन्तर्गत निर्माण हुआ वह रोम साम्राज्य में विभिन्न राष्ट्रीयताओं को एथनिक कलेवर से बाहर निकालकर सिविक चरित्र प्रदान करने का एक महत्त्वपूर्ण आधार है। इसी तरह भारत के स्मृति ग्रंथों में जिस शाश्वत धर्म की चर्चा हुई है वह राष्ट्रीयताओं को एथनिक पृष्ठभूमि से बाहर लाकर सिविक स्वरूप प्रदान करता है। रोम साम्राज्य के पूर्व एकता की स्थापना के विचार ग्रीक सभ्यता में भी उत्पन्न होने लगे थे और यह नृजातीय एकता से बढ़कर सिविक एकता का ही स्वर था। जब चौथी शताब्दी के प्रारम्भ में लिओंटिनी के जार्जियस ने ओलंपियन खेलों के समय एक विख्यात भाषण दिया और एकता की अपील करते हुए कहा कि यूनानी पृथकता यूनान के राजनैतिक जीवन के लिए खतरा बनता जा रहा है, तब राष्ट्र होने का बोध वहाँ भी है। 388 ई. पूर्व में लीसिआस ने भी इस विषय का विवेचन किया और आइसोक्रेटिस ने भी एकता की अपील की।[12]

परंतु, यूनान के इन स्वरों को कोई कौटिल्य और चंद्रगुप्त नहीं मिला। इन स्वरों में भी विरासत और अतीत के प्रति गौरव बोध ही नहीं है अपितु उसे अक्षुण्ण बनाए रखने की आकांक्षा भी हैं। यह आकांक्षा उन्हें राष्ट्र बनाती है परंतु राजनैतिक संरक्षण एवं उस संरक्षण के स्थायित्व के मामले में यूनानी आकांक्षा सिकंदर के साम्राज्य लिप्सा और उसकी असफलता के मध्य ढ़ेर हो गई। भारत में इसके ठीक उलट गणतंत्रीय आस्था जब साम्राज्य निष्ठा में बदली तो उसे दीर्घकालिक राजनैतिक संरक्षण प्राप्त हुआ। यद्यपि भारत में साम्राज्य निर्माण और स्थायी जीवन के प्रभाव से उत्पन्न होने वाली हिंसा एवं अन्याय के विरोध में बौद्ध धर्म सामाजिक प्रतिरोध के रूप में प्रकट हुआ किंतु यह यूनान के सिनिक संप्रदाय[13] की तरह पलायनवादी नहीं था। सिनिक विचार ने कोई संगठन का स्वरूप ग्रहण नहीं किया। जबकि भारत में बौद्ध धर्म ने सांगठनिक ढाँचे का भी विकास किया। इस सांगठनिक ढाँचे को जिस साम्राज्य से संरक्षण प्राप्त हुआ उसी साम्राज्य के सांस्कृतिक हिंसा का बौद्धमत प्रतिरोध भी करता है। अहिंसा परमो धर्मः स्वयं सनातन मत का एक प्रभावी और महत्त्वपूर्ण स्वर रहा है फलतः बौद्धमत भी किसी सर्वथा नवीन आस्था प्रणाली को जन्म नहीं दिया और न ही बौद्धमत ने साम्राज्य-निष्ठा के लिए कोई चुनौती उत्पन्न की। यदि बौद्धमत की आस्था-प्रणाली भारत में साम्राज्य-निष्ठा के लिए चुनौती बन जाती तब भारत में राष्ट्रीय चेतना विकसित होने के मार्ग में एक प्रारंभिक बाधा उत्पन्न हो सकती थी। ठीक वैसी ही बाधा जो रोम साम्राज्य के पवित्र रोम साम्राज्य के रूपांतरण पर हुआ। पवित्र रोम साम्राज्य ने व्यक्ति की निष्ठा को विभाजित कर दिया। यहाँ से व्यक्ति दो सत्ताओं के नियंत्रण में आ गया जिससे राष्ट्रीयतायें तो बची रह गई किंतु उनका राष्ट्रवाद भ्रमित हो गया।[14] ऐसा इसलिए कि राष्ट्रवाद विभाजित चेतना का विषय नहीं है। फलतः जब यूरोप में ज्ञानोदय के समय धर्म को इस दुनिया से बाहर ढकेल दिया गया (धर्मनिरपेक्षता) तब उनका शरीरधर्मी राष्ट्रवाद जागृत हो उठा। ऐसा इसलिए कि धर्मनिरपेक्षता ने उन्हें वह तर्क प्रदान किया जिसके माध्यम से पश्चिम व्यक्ति की आस्था को एक ही सत्ता के प्रति स्थिर रखने का दावा कर सकता था, यद्यपि यह एक भ्रम था और इसी भ्रम से पश्चिम में संप्रभुता आधारित राज्य केंद्रित राष्ट्रवाद का उदय होता है।

किंतु यह यूरोप में राष्ट्रवाद का एक ऐसा जागरण था जिसमें अनेक विसंगतियाँ थीं। जिनमें पहले का उल्लेख ऊपर की पंक्तियों में हुआ है। इसका दूसरा अंतर्विरोध यह था कि जब पश्चिम आधुनिक मनुष्य को अहम एवं स्वार्थ केंद्रित प्राणी के रूप में परिभाषित कर रहा था उसी समय वह अपने राष्ट्रवाद को भी गढ़ रहा था। ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि एक अहम एवं स्वार्थ केंद्रित प्राणी अपने को राष्ट्रवाद के सामूहिक एकता वाली

धारणा के साथ क्यों जोड़ना चाहेगा। इसका एक ही तार्किक उत्तर है और वह है अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए। स्वार्थ पूर्ति की सामूहिकता राष्ट्र को एक भौतिक इकाई बना देता है। विडंबना यह है कि यही राष्ट्र-राज्य इकाई जिसे तात्विक रूप से राज्य-राष्ट्र इकाई कहा जाना अधिक युक्यियुक्त है आधुनिकता, उपनिवेशवाद और विज्ञान तथा तकनीकी के विकास का मॉडल बनता चला गया और इसने ऐसी विश्वदृष्टि को एक तरह से सार्वभौमीकृत कर दिया जिसने अन्य सभ्यताओं की जीवन एवं विश्वदृष्टि को पृष्ठभूमि में ढकेल दिया।

यह सब बिना हिंसा के संभव नहीं था इसके चलते विपुल राशि में ऐसे ज्ञान का सृजन किया गया जिसमें हिंसा के प्रति हमारा नजरिया ही बदल गया और अब हम कई बार हिंसा को शक्ति का प्रतीक मान लेते हैं जबकि शक्ति एकता और सेवा का प्रतीक है। पश्चिम के ऐसे ही राज्य आधारित राष्ट्रवाद को देखकर महर्षि अरविंद ने कहा था कि 'कि आज के संगठित राज्य न तो राष्ट्र के सर्वोच्च मस्तिष्क हैं न ही यह समूह की पूर्ण ऊर्जा हैं। बल्कि यह समूह की संगठित क्रियात्मकता को दबाते हैं और हतोत्साहित करते हैं। यह ऐसे चिंतनशील मस्तिष्क को जो वर्तमान में सबसे अच्छे सिद्ध हो सकते हैं और भविष्य को नई दिशा दे सकते हैं उसे भी पनपने से रोकते हैं। वास्तव में राज्य का सामूहिक अहम एक निम्न कोटि का सामूहिक अहम होता है और इसके पास समाज की तरह का नैतिक बल भी नहीं होता है। राज्य के पास जो बल है वह अर्थ शक्ति और सैन्य शक्ति का बल है। दुर्भाग्य से यही बल जिसकी बौद्धिकता और नैतिकता भी अधूरी और अविकसित होती है अपने अधकचरे नैतिकता और ज्ञान को समाज पर थोपने का प्रयास करता है।[15] यह राज्यों का आन्तरिक चरित्र है और इसी चरित्र का जब वे अंतरराष्ट्रीय स्तर पर परिचय देते हैं तो भीषण जानवर (ह्यूज बीस्ट) की ही तरह प्रतीत होते हैं।[16]

यदि हम हाब्सबाम के विचारों को आधार बनाएं तो वे फ्रांसीसी क्रांति में राष्ट्रवाद का प्रथम विस्फोट मानते हैं और राष्ट्रवाद को एक आधुनिक एवं अभिजन संघर्ष आधारित विचारधारा मानते हुए कहते हैं कि यह राष्ट्रवाद है जो राष्ट्र को बनाता है। राष्ट्र से राष्ट्रवाद और राज्य नहीं बनते बल्कि यह राज्य है जिससे राष्ट्रवाद बनता है।[17] यदि इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाए तो पश्चिम में राजशाही के खिलाफ जनता की आक्रामक एकजुटता में राष्ट्रवाद को देखा जा सकता है और इस तरह से राष्ट्रवाद स्थापित शासन के खिलाफ जनता को शक्ति देने वाला मंत्र बन जाता है। किंतु शीघ्र ही पश्चिम में लोकतंत्र के ढांचागत प्रयोग ने राष्ट्रवाद को शासन को वैधता प्रदान करने वाला एक प्रबल माध्यम बना दिया। इस प्रयोग से शासन का सबसे विकृत रूप प्रकट होता है।

पश्चिम के राष्ट्रवाद को परिभाषित करते हुए टैगोर ने तीन महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है। प्रथम, राष्ट्र लोगों के राजनैतिक एवं आर्थिक संघ की एक यांत्रिक साझेदारी (सेंस) है। द्वितीय, इसके विपरीत समाज का संगठन राष्ट्र जैसा कोई अप्रत्यक्ष उद्देश्य नहीं रखता है बल्कि यह स्वयं में ही साध्य है।[18] तृतीय, समाज मनुष्य की सामाजिक प्राणी के रूप में मानवीय संबंधों के स्वाभाविक अभिव्यक्ति की प्राकृतिक व्यवस्था है, इसका एक राजनैतिक पक्ष भी होता है किंतु यह मात्र एक पक्ष है जिसका उद्देश्य अपना परिरक्षण है। स्वयं इसका अपना कोई मानवीय आदर्श नहीं है। किंतु जब इस राजनैतिक पक्ष ने विज्ञान, विशेषज्ञता और समृद्धि का सहारा पाया तब यह पक्ष आश्चर्यजनक रूप से विकसित हुआ। राजनैतिक पक्ष के इस विकास ने पड़ोसी समुदायों के प्रति ईर्ष्या और भय को इस तरह बढ़ा दिया कि स्वार्थ से प्रेरित वर्चस्व स्थापित करने की भूमिका में इसने शासन की शक्ति अर्जित कर लिया। फलत: समाज के आत्मनियंत्रण की शक्ति को भी इसने अपने आधिपत्य में ले लिया। इसने सह-संबंधों की स्वाभाविक नियंत्रण ाकारी प्रवृत्तियों को तोड़ दिया और नियंत्रण की यांत्रिक व्यवस्था स्थापित कर ली।[19] समाज के एक अंग के रूप में कार्य करने वाली राजनीति का समाज के सभी अंगों पर छा जाना एक ऐसी प्रतिस्पर्धा को जन्म देता है, जिसमें सबसे पहले स्त्री की पराधीनता बढ़ी। क्योंकि; इस नई प्रकार की राजनीति में पुरूष प्रोफेशनल था, वह आय अर्जित करने वाला होने के कारण शक्ति का प्रतीक बन गया था। इस बदलाव में स्त्री और पुरुष अपने होने के अर्थ-संदर्भ को खो चुके थे। अब वे ऐसी अवस्था में थे जैसे गैसीय द्रव्य को किसी बहुत ही सकरी नली से, दबाव में होकर निकलना हो जिसमें दोनों (स्त्री-पुरूष) अपने संबंध को तब तक रख सकते हैं जब तक कि यह पाइप फट न जाय।[20] इसी को एक बड़े संदर्भ में देखा जाय तो आज वह राष्ट्र जो राजनैतिक एवं आर्थिक साझेदारी का यांत्रिक स्वरूप है वह राजनीति की प्रयोगशाला में व्यक्तिगत मानवता का क्षय कर देता है। राजनीति और व्यापार जिसका दूसरा नाम राष्ट्र है जिस दिन मानवता के सामंजस्य से अधिक शक्तिशाली हो जायेगा वह मानवता के लिए सबसे अशुभ दिन होगा।[21]

गुरूदेव कहते है कि राष्ट्र के द्वारा शासन न तो ब्रिटिश है न ही कुछ और है बल्कि यह एक प्रयुक्त विज्ञान (एप्लाइड साइंस) है। यह हर जगह एक ही तरीके से प्रयुक्त होता है। वह तरीका है हाइड्रोलिक दबाव का तरीका जो अवैयक्तिक होने के कारण पूर्णतया प्रभावी होता है। दबाव का स्वरूप मशीन की (राष्ट्र के अर्थ में) आकृति पर जरूर निर्भर करती है किंतु उनका तात्विक या सार रूप एक ही जैसा होता है।[22] मानव सभ्यता के इतिहास में अब तक और विशेषकर भारत में अनेक विदेशी शासन स्थापित हुए हैं। इन सभी में कुछ न कुछ मशीनी स्वरूप रहा है। परंतु अन्य शासन के स्वरूप और राष्ट्र द्वारा शासन के स्वरूप में अंतर यह है कि बाकी के शासन हैंडलूम की तरह रहे है और राष्ट्र के द्वारा शासन पावरलूम की तरह है। हैंडलूम की तरह का शासन अर्थात् भारत में अंग्रेजों के पूर्व का शासन जीवन्त अनुभूतियों और जीवन के संगीत से संगति को बनाए रखता है। जबकि पावरलूम की तरह का राष्ट्र वाला शासन निरंतर समाज को एकरस (एकरूपता के संदर्भ में समझें) और जीवन-विहीन बना देता है।[23]

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि पश्चिम में राष्ट्रवाद का कोई अन्य विकल्प या अन्य प्रतिमान नहीं हो सकता था। किंतु उन्हें इसके लिए मसीही काल के पूर्व के समजातीय

रिक्त-काल में जाना होगा और अपने तीनों आत्म-विभाजन से मुक्त होना पड़ेगा।[24] किंतु, इसके लिए स्वयं यूरोप के इतिहास के ऐसे पुनर्लेखन की जरुरत है जिसमें वह अपने को डार्विनवाद के प्रभाव से मुक्त रख सके। साथ ही भारत को यदि अपने राष्ट्रवाद को एक प्रतिमान के रूप में प्रस्तुत करना है तब उसे भी राष्ट्रवाद को अपने उसी मूल सिद्धांत पर स्थिर रखना होगा जिसमें राष्ट्रवाद 'सर्वभूतहितेरता:' के संकल्प को समाज, राज्य एवं अर्थव्यवस्था के संचालन का मंत्र बन जाता है।

संदर्भ

1. यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि संस्कृति का प्रकाश निर्देशक अर्थ ही क्यों लगाया जाना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि संस्कृति हमें प्रकाशित करती है। जैविक बंधनों के अंधकार से संस्कृति ही हमें मुक्त करती है। कोई तत्वदर्शी यहाँ आक्षेप कर सकते हैं कि *'सा विद्या या विमुक्तये'* कहा गया है न कि सा संस्कृति या विमुक्तये कहा गया है। वस्तुत: यह मात्र प्रक्रिया-भेद दृष्टि का अंतर है। विद्या जो परिणाम उत्पन्न करती है वही तो संस्कृति है। अंत: संस्कारित करना प्रकाशित करना भी है, यह सिद्ध है
2. ऋग्वेद, 10,125, 3-1
3. इसे ही कालिदास अभिव्यक्त करते हुए कहते हैं : अस्त्युतरस्यां दिशि देवतात्मा हिमालयो नाम नगाधिराज:। पूर्वापरौ तोयनिधिव गाय्ह्य:स्थित: पृथिव्या इव मानदण्ड: (कालिदास, कुमारसम्भव, 1/1)। इस विवरण में हिमालय से हिन्द महासागर तक के भू- भाग का उल्लेख तो हुआ ही है महत्त्वपूर्ण यह है कि उस भू- भाग को आस्था और गौरव बोध के साथ पृथ्वी पर मानदंड के रूप में भी प्रस्तुत किया जा रहा है। एक निश्चित भू-भाग के प्रति ऐसी ही सामूहिक आस्था और गौरव बोध से राष्ट्रवाद की उत्पत्ति मानी जाती है।
4. पश्चिमी राजनैतिक चिंतन में इस अवधारणा के साथ फ्रेडरिक बार्थ का नाम जुड़ा है।
5. विष्णु पुराण में भारत राष्ट्र की सीमा अनुभूति की उल्लेख यह कहते हुए किया गया है कि, उत्तरं यत् समुद्रस्य हिमाद्रेश्चौव दक्षिणम, वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र संतति:।
6. अथर्ववेद, 19/41/9
7. अथर्ववेद, 12/1/ 12-13
8. मैं चाहूँगा कि आप अपनी दृष्टि उस समय तक नित्य ही एथेंस की महत्ता पर केंद्रित रखें जब तक कि आप उसके प्रेम से परिपूर्ण न हो जायें। जब आप उसके गौरव को अपने हृदय में उतार लें तब आप विचार करें कि यह साम्राज्य उन व्यक्तियों ने अर्जित किया जा था जो अपने कर्तव्य से अवगत थे और जिनमें अपने कर्तव्यपालन का साहस था। जो संघर्ष की बेला में इस बात का सदैव ध्यान रखते थे कि कहीं एथेंस की मानहानि न होने पाये। यदि वे किसी कार्य में असफल होते थे तो अपने देश की गौरव पताका नहीं झुकने देते थे बल्कि स्वेच्छा से उसके चरणों पर अपने प्राणों की बलि चढ़ा देते थे। सेबाइन,जे.एच.राजनीति दर्शन का इतिहास, हिंदी अनुवाद, (विश्वप्रकास) नई दिल्ली:एस. चन्द एंड कम्पनी.1987 पृ.1
9. सेबाइन,जे.एच. राजनीति दर्शन का इतिहास, हिंदी अनुवाद, (विश्वप्रकास) नई दिल्ली: एस. चन्द एंड कम्पनी 1987 पृ.153
10. पूर्वोक्त
11. उल्लेखनीय है कि राष्ट्रवाद को समझने के लिए बेनेडिक्ट एंडरसन ने इमेजिंड कम्यूनिटी की अवधारणा का प्रयोग किया है और इसका राष्ट्रवाद को समझने में कालजयी प्रभाव भी स्वीकार किया जाता है। इसका निहितार्थ उस साहचर्य को प्रकट करता है जिसमें हम अतीत और वर्तमान के उन लोगों से जुड़ाव महसूस करते हैं जिनसे हम भले ही प्रत्यक्ष रूप से अंत: क्रिया न करते हों। तीर्थयात्राओं की भी इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है और यह प्राय: दुनिया के हर समुदायों में किसी न किसी रूप में पायी जाती है। किंतु भारत में जिस तरह से तीर्थ परंपरा का विकास हुआ है वह अद्वितीय है। देखें, बेनेडिक्ट एंडरसन (2016), इमेजिंड कम्युनिटीज :रिफ्लैक्शन्स ऑन ओरिजिन एंड स्प्रेड ऑफ नेशनलिज्म, वेर्सो, लंदन
12. पूर्वोक्त, पृ. 118
13. सिनिक यूनानी मत है जिसका प्रतिपादक एंतिस्थिनीज है। यह समाज के प्रति उपेक्षा का भाव रखता है और व्यक्ति पर समाज की प्रभुता का निषेध करता है।
14. यहाँ, निष्ठा के विभाजन का संबंध पैगन निष्ठा और मसीही निष्ठा में विभाजन से है। पैगन निष्ठा का स्वरूप भारत की ही तरह चराचरवादी था इसीकारण मूल ग्रीक राष्ट्रवाद का स्वरुप अपने में आध्यात्मिक संकल्प का भी द्योतक था। किंतु, मसीही निष्ठा में इहलोक और परलोक का ऐसा विभाजन था जिसमें इहलौकिक व्यवस्था ईश्वरत्व से विहीनता का संकेत करती है। पश्चिम का आधुनिक राज्य जिस मसीही ईश्वरत्व विहीनता की मध्ययुगीन धारणा से प्रकट होता है वही वहां आगे चलकर आधुनिक राष्ट्रवाद की पृष्ठभूमि भी तैयार करता है। इस दृष्टि से पश्चिम के राष्ट्रवाद में राष्ट्र का शरीर तो मौजूद है किंतु वह आत्मा से रहित है।
15. घोष, अरविंद. द आईडियल ऑफ ह्यूमन यूनिटी, पांडिचेरी : श्री अरविंदो आश्रम पब्लिकेशन, 1919,पृ 24
16. पूर्वोक्त
17. हाब्सबाम, ई.जे. नेशंस एंड नेशनलिज्मस सिन्स 1780, नई दिल्ली: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस 199, पृ.10
18. टैगोर, रविन्द्रनाथ. नेशनलिज्म इन जापान, अंतर्गत आमनिबस, भाग-3, नई दिल्ली: रूपा पब्लिकेशंस, 2005, पृ. 35
19. पूर्वोक्त
20. पूर्वोक्त, पृ. 36
21. पूर्वोक्त
22. पूर्वोक्त, पृ. 37
23. पूर्वोक्त, पृ. 40
24. पहला आत्म विभाजन सुकरात को विष देना, दूसरा आत्म विभाजन मसीही धर्म द्वारा पैगन आस्था को समाप्त कर देना और तीसरा आत्म विभाजन ज्ञानोदय में धर्मनिरपेक्षता को अपनाना।
25. विश्वनाथ मिश्र (2023), भारतीय राष्ट्रवाद: राष्ट्रवाद का अवधारनात्मक वि-औपनिवेशीकरन, डी. के. प्रिंट वर्ल्ड, नई दिल्ली।

डॉ. चंद्र प्रकाश सिंह

भारतीयता और संप्रदाय

वैविध्य में एकात्मता के लिए सुविज्ञात भारतीय संस्कृति का आधार स्तंभ है आध्यात्मिकता। इस आध्यात्मिकता का सारा जोर है व्यक्ति के सर्वांगीण विकास पर। संप्रदायों के समक्ष एक विश्लेषण

विविधताओं से परिपूर्ण भारतीय संस्कृति विश्व की प्राचीनतम जीवंत संस्कृति है। भारतीय संस्कृति की विविधता न केवल वेशभूषा, भाषा आदि बाह्य रूपों में परिलक्षित होती है अपितु धार्मिक क्षेत्र में भी भिन्न-भिन्न दर्शनों एवं उन पर आधारित संप्रदायों के रूप में प्रकट होती है। भारतीय संस्कृति के मूल-तत्त्व से अनभिज्ञ व्यक्ति के मन में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि नाना प्रकार की विविधताओं के होते हुए भी यह कौन से मूल-तत्त्व हैं जो वैदिक काल से लेकर आज तक भारतीय संस्कृति की एकात्मता को अक्षुण्ण बनाए हुए हैं, क्योंकि आज इसी अनभिज्ञता का लाभ उठाकर विघटनकारी शक्तियाँ भारतीय समाज में विभेद उत्पन्न कर अपने स्वार्थ की सिद्धि करना चाहती हैं। अत: वर्तमान परिवेश में भारतीय संस्कृति के उन मूलभूत सारग्राही सिद्धांतों की ओर ध्यान आकर्षित करना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य प्रतीत होता है।

किसी भी समाज की चिंतन-पद्धति पर उस समाज की सभ्यता, संस्कृति, भौगोलिक परिवेश, जलवायु आदि परिस्थितियों का व्यापक प्रभाव पड़ता है। यही कारण है कि किसी राष्ट्र में भिन्न-भिन्न समयों तथा स्थान में उत्पन्न मतों में कुछ भेद होते हुए भी समानता के कुछ बिंदु समान रूप से अंतर्निहित रहते हैं, जो संस्कृति की सातत्य के परिचायक होते हैं। भारतीय धार्मिक संप्रदायों में भी कुछ बाह्य भेद होते हुए भी उनके भाव एवं सिद्धांतों में एकरूपता के ऐसे बिंदु दृष्टिगोचर होते हैं जो वैदिक काल से लेकर आज तक प्रत्येक विचार पद्धति में समान रूप से स्वीकार्य हैं।

आध्यात्मिकता भारतीय संस्कृति की आधार स्तंभ है। वैदिक काल से ही देश की उर्वर शस्यश्यामल भूमि, स्वच्छ जल से परिपूर्ण सरिताएँ, शीतल-मंद पवन लोगों को स्वत: ही आध्यात्मिक ज्ञान की ओर अग्रसर करते रहे हैं। अत: आध्यात्मिक प्रवृत्ति भारतीय समाज की मूलभूत विशेषता है। डॉ. राधाकृष्णन के अनुसार भारतीय विचारधारा का सर्वोपरि स्वरूप जिसने इसकी समग्र संस्कृति को ओत-प्रोत कर रखा है और जिसने इसके सब चिंतनों को एक विशेष प्रकार का ढाँचा प्रदान किया है, इसकी आध्यात्मिक प्रवृत्ति है। आध्यात्मिक अनुभव भारत के संपन्न सांस्कृतिक इतिहास की आधारभित्ति है।[1] अन्य देशों के इस्लाम-ईसाइयत आदि पंथों में जहाँ देवदूत या पैगंबर की वाणी को ही धर्म-आचरण एवं नीतिशास्त्र का आधार माना गया है वहीं भारत में आध्यात्मिक अनुभूति धर्म-आचरण एवं नीतिशास्त्र की आधार स्तंभ है। भारतीय जनमानस के अंतर-बाह्य सभी कर्मों और व्यवहारों का यही मार्गदर्शक सिद्धांत है।

प्रत्येक मानव का एक व्यक्तित्व होता है। व्यक्तित्व उसे कहते हैं जिसे वह मन, बुद्धि और शरीर के द्वारा लोक-जीवन में व्यक्त करता है अर्थात् जैसा वह सोचता है, निश्चय करता है और शारीरिक व्यवहार करता है, वही उसका व्यक्तित्व है। व्यक्तित्व को व्यक्त करने वाले करणों के पीछे जो अधिष्ठान है, उस अधिष्ठान की खोज ही अध्यात्म है।

मनुष्य के पास मन, बुद्धि और शरीर है तो नि:संदेह वह कुछ न कुछ करेगा। वह क्या करे, कैसे करे और क्यों करे यह मनीषियों के लिए चिंतन का विषय रहा है, क्योंकि वह जो करेगा उसका प्रभाव न केवल स्वयं उसके ऊपर बल्कि समाज के ऊपर भी पड़ेगा। भारतीय चिंतन में व्यक्ति के व्यक्तित्व को प्रतिबंधित करने का कभी भी विचार नहीं किया गया। यह कभी नहीं कहा गया कि मानसिक चिंतन एवं बौद्धिक निश्चय का विचार हमारे ऊपर छोड़ दो और तुम बस वह शारीरिक व्यवहार करो जो हम कहें, बल्कि मनुष्य के व्यक्तित्व के पूर्ण विकास पर चिंतन किया गया, जिससे वह स्वयं श्रेष्ठ चिंतन, निश्चय और व्यवहार करने में सिद्ध हो सके। भारतीय चिंतन मनुष्य को कभी बाड़े में बंद करके रखने की बात नहीं कहता है कि जो हम सोचें वही सोचो और जो हम निश्चय करें वही करो, बल्कि

मनुष्य के अंदर सदैव जिज्ञासा होनी चाहिए।

शास्त्र कहता है केवल इंद्रिय इच्छाओं की तृप्ति या काम और सुख के लिए ही मनुष्य का जीवन नहीं है, बल्कि जीवन के मूलभूत सत्य और उद्देश्य के बारे में जानने की इच्छा होनी चाहिए।

कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चे: कर्मभि:।।[2]

मजहबवाद इसके सर्वथा प्रतिकूल है। वह व्यक्ति के स्वयं चिंतन और निश्चय के अधिकार पर ताला लगाकर कहता है कि हमने जो कह दिया वही अंतिम निश्चय है, उसे ही तुम सत्य मानो, इससे अधिक चिंतन और विचार अपराध है। मजहबी मान्यता व्यक्ति के मानसिक और बौद्धिक व्यक्तित्व को कुंठित कर उसे बाड़े का पशु बना देती है।

दुर्भाग्य यह है कि आज संप्रदाय को मजहबवाद के पर्याय के रूप में व्यक्तियों के संगठन के रूप में देखा जाता है, क्योंकि मजहब व्यक्ति के धार्मिक नहीं केवल संगठित होने पर जोर देता है और संगठन एक भौतिक शक्ति के रूप में दिखाई देता है। एक संगठित शक्ति धार्मिक हो या अधार्मिक अपने स्थूल बल के आधार पर भौतिक धरातल पर कुछ समय के लिए सफल दिखाई देती है, भले ही उसके दूरगामी परिणाम चाहे जितने भयंकर हों।

संगठनवाद, मजहबवाद का ही प्रतिक्रियात्मक रूप है, जो समाज के साथ सहज लयबद्धता के रूप में परस्पर अन्योन्य भाव से नहीं, बल्कि एक संकेंद्रिक संरचना के रूप में खंडित स्वरूप में खड़ा होकर पूरे समाज को अपने बाड़े में खड़ा करना चाहता है। वहाँ व्यक्तित्व के विकास का पक्ष नहीं होता, बल्कि व्यक्ति को अपने द्वारा निश्चित उद्देश्य के अनुकूल बना लेना ही उद्देश्य होता है, चाहे उद्देश्य जैसा भी हो। किसी व्यक्ति में सामाजिक दृष्टि से उसमें लाख अवगुण हों लेकिन वह संगठन या मजहबी उद्देश्य को पूरा करता है तो उनके अनुसार वही उसके व्यक्तित्व की विशेषता है और वही उसका व्यक्तित्व विकास है। संप्रदायों का आधार केवल संगठन नहीं है बल्कि ज्ञान प्रदान करने कि विधा है। इसका अधिष्ठान भौतिक धरातल से अधिक मानसिक एवं बौद्धिक धरातल है। यथार्थत: धार्मिक संप्रदायों का संबंध तत्त्व-जिज्ञासा पर विचार करने की विधा (School of thought) से है। किसी भी क्षेत्र में सम्यक प्रकार से ज्ञान प्रदान करने की विधा को संप्रदाय (सम्+प्र+दा+घञ्) कहते हैं। केवल धार्मिक या दार्शनिक संप्रदाय ही नहीं होते अपितु विद्या और कला के सभी क्षेत्रों में संप्रदाय हैं। जैसे, उदाहरण के रूप में संस्कृत साहित्य के काव्यशास्त्र में छ: संप्रदायों का उल्लेख प्राप्त होता है, रस संप्रदाय, अलंकार संप्रदाय, रीति संप्रदाय, वक्रोक्ति संप्रदाय, ध्वनि संप्रदाय और औचित्य संप्रदाय।

भारतीय धार्मिक संप्रदायों की अनेक परंपराएँ हैं, जिन्हें मुख्य रूप से वैदिक और श्रमण परंपराओं के रूप में विभाजित किया जा सकता है। वैदिक परंपरा के अंतर्गत प्रमुख रूप से शैव, शाक्त, वैष्णव, संतमत आदि आते हैं। शैव, शाक्त, वैष्णव और संतमत के अंतर्गत भी अनेक विभेद हैं। शैव संप्रदाय की चार प्रमुख परंपरा है- शैव सिद्धांत मत, वीर शैव, कापालिक और कश्मीर शैव। शंकराचार्य द्वारा स्थापित दशनामी संप्रदाय की परंपरा को भी लोग शैव संप्रदाय में परिगणन करते हैं, लेकिन यहाँ केवल शिव ही उपास्य नहीं हैं। शंकराचार्य ने पंचायतन पूजा पद्धति, जिसमें शिव, विष्णु, शक्ति, सूर्य एवं गणेश के पूजन का विधान किया है तथा दार्शनिक दृष्टि से अद्वैत संप्रदाय का प्रतिपादन किया है। वैष्णवों में चार प्रमुख संप्रदाय माने जाते हैं- श्री, हंस, ब्रह्म और रूद्र संप्रदाय, जिनके आचार्य क्रमश: रामानुजाचार्य, निम्बार्काचार्य, मध्वाचार्य और वल्लभाचार्य हैं। इनके अतिरिक्त चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रवर्तित गौड़ीय वैष्णव संप्रदाय, हितहरिवंश जी द्वारा प्रवर्तित राधावल्लभ संप्रदाय, शंकरदेव द्वारा प्रवर्तित महापुरुषिया संप्रदाय आदि हैं। संतमत में भी उदासीन, नानकपंथी, कबीरपंथी, मलूकदासी, रविदासी सहित धन्ना, पीपा, सेन आदि के अनेक मत, पंथ हैं। इसी प्रकार श्रमण परंपरा के बौद्ध और जैन दोनों में भी संप्रदाय भेद हैं। जैसे, बौद्धों में हीनयान (थेरवाद) और महायान दो प्रमुख भेद हैं और चार प्रमुख दार्शनिक संप्रदाय स्वातांत्रिक, वैभाषिक, विज्ञानवाद (योगाचार) और शून्यवाद (माध्यमिक) हैं। जैनों में श्वेतांबर और दिगंबर दो प्रमुख संप्रदाय हैं। उनके अंदर भी तारणपंथ, तेरापंथ, स्थानकवासी आदि भेद हैं।

अधिकांश भारतीय संप्रदायों में इस नश्वर शरीर से परे एक शाश्वत तत्त्व के अस्तित्व को तथा इस जड़-चेतनमय सृष्टि के निर्माता एवं नियंता के रूप में परमात्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। उनमें भेद मात्र जीवात्मा तथा परमात्मा के स्वरूप एवं उनके परस्पर संबंध को लेकर है, आत्मा एवं परमात्मा के अस्तित्व को लेकर नहीं। वैदिक वाङ्मय में भी उनके स्वरूप का बहुविध वर्णन किया गया है, जिसे आधार बनाकर अनेक संप्रदायों ने अपने मतों का प्रतिपादन किया है। इस बहुविध वर्णन का कारण यह है कि वैदिक ऋषियों के द्वारा एक ऐसे अनुभूत सत्य का वर्णन किया जा रहा था जिसे वाणी के द्वारा वर्णित किया जाना संभव ही नहीं है। जो वस्तु जितनी सूक्ष्म एवं विस्तृत होती है उसका वर्णन किया जाना भी उतना ही कठिन होता है, जैसे यदि आकाश के विषय में वर्णन किया जाए तो अत्यंत कठिन होगा, तो उससे भी अत्यंत महान परमतत्त्व का वर्णन भला वाणी के द्वारा कैसे संभव है? दूसरा पक्ष यह भी है कि कोई भी कार्य अपने कारण को पूर्ण रूप में नहीं व्यक्त कर सकता, अत: इंद्रिय, मन और बुद्धि में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह इस जगत के कारण को व्यक्त कर सके। इंद्रियातीत सत्ता को जब इंद्रियों के माध्यम से व्यक्त किया जाएगा तब उसमें कुछ न कुछ अधूरा अवश्य रह जाएगा, इसलिए उपनिषद कहता है- ब्रह्मश का वह आनंद जहाँ से कुछ भी प्राप्त किए बिना वाणी वापस लौट आती है तथा मन भी जहाँ पहुँच कर विस्मय से चकित होकर लौट आता है, 'ब्रह्म' के उस आनंद को कौन जानता है अर्थात उसे वाणी आदि के द्वारा नहीं जाना जा सकता।[3] इसलिए जब भी परमसत्ता को वाणी के द्वारा व्यक्त करने कि चेष्टा कि जाएगी उसमें विविधता होना स्वाभाविक है। वैदिक ऋषियों को इस सत्य का साक्षात्कार हुआ कि "सत्य एक है, लेकिन बुद्धिमान लोग इसे विभिन्न नामों से पुकारते हैं।"[4]

भारतीय मत, पंथ तथा संप्रदायों में परमात्मा एवं जीवात्मा का वर्णन भले ही भिन्न-भिन्न प्रकार से किया गया हो, परंतु इस विषय में सभी एकमत है कि परमात्मा एवं जीवात्मा का वर्णन वाणी के द्वारा पूर्णतया संभव नहीं है, इसलिए सभी ने अनुभूति को आध्यात्मिक महत्व दिया है। इसी समस्या को देखते हुए महात्मा बुद्ध इन प्रश्नों पर मौन रहना ही उचित समझे, जिसको बाद में उनके अनुयायियों ने शून्यवाद, विज्ञानवाद आदि के रूप में परिभाषित कर दिया।

भारतीय मत, पंथ एवं संप्रदायों कि विविधता के पीछे देश, काल, परिस्थिति के साथ व्यक्ति के मानसिक और बौद्धिक ग्राह्यता का भी प्रमुख स्थान है। हमारे ऋषियों-मनीषियों को यह स्पष्ट

पता था कि प्रत्येक स्थान पर, प्रत्येक काल में और प्रत्येक परिस्थिति में भिन्न-भिन्न बौद्धिक एवं मानसिक स्तर के लोगों के लिए एक समान तत्त्व-चिंतन या एक समान उपासना पद्धति का विधान नहीं किया जा सकता। इन विविधताओं को ध्यान में रखते हुए भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भिन्न-भिन्न देश, काल, परिस्थिति में, भिन्न-भिन्न मानसिक एवं बौद्धिक धरातल के लोगों के लिए भिन्न-भिन्न संप्रदायों का प्रवर्तन किया, लेकिन उनका उद्देश्य एक था संकुचित से विकसित होना, अज्ञान से ज्ञान की ओर उन्मुख होना, व्यष्टि का समष्टि से सामंजस्य होना, अपूर्ण से पूर्ण में समाहित होना। जो जहाँ, जैसे और जिस धरातल पर हो, उसे वहाँ, वैसे और उसी धरातल से विस्तार का मार्ग उपलब्ध हो, यही भारतीय संप्रदायों की विविधता में अंतर्निहित सौंदर्य है। इसी भाव को शिवमहिम्न स्तोत्र में पुष्पदंत व्यक्त करते हैं- जिस प्रकार विभिन्न नदियाँ अलग-अलग रास्तों से होकर समुद्र में मिलती हैं, उसी प्रकार अलग-अलग रुचियों और रास्तों से चलने वाले व्यक्ति भी अंततः तुम (ईश्वर) में ही मिल जाते हैं।[5] स्वामी विवेकानंद जी कहते थे "मानवता के लिए वह स्वर्णिम दिवस होगा जब प्रत्येक व्यक्ति का उसकी बौद्धिक एवं मानसिक अवस्था के अनुरूप अपना संप्रदाय होगा, जिसके माध्यम से वह अपना उत्थान कर सके।"

इसी प्रकार कर्मफल तथा पुनर्जन्म दो ऐसे सिद्धांत हैं जिन्हें भारत भूमि में उत्पन्न चार्वाक मत को छोड़कर ऐसी कोई विचारधारा नहीं है जिसने स्वीकार न किया हो। भारतीय संस्कृति को सर्वाधिक प्रभावित करने वाले यही दोनों सिद्धांत हैं, जिनकी छाप भारत के जन-जन के दैनिक कर्म एवं लोक-व्यवहार में युगों-युगों से परिलक्षित हो रही है। कोई व्यक्ति किसी दार्शनिक मतवाद के विषय में भले ही कोई जानकारी रखता हो या ना रखता हो, परंतु कर्मफल एवं पुनर्जन्म की उसकी अवधारणा में किसी प्रकार का संदेह नहीं रहता। भारतीय वैदिक दार्शनिक संप्रदायों में भी दो दर्शन, पूर्व मीमांसा और सांख्य ऐसे हैं जो ईश्वर को नहीं स्वीकार करते, लेकिन अदृष्ट के रूप में कर्मफल और पुनर्जन्म को स्वीकार करते हैं।

ये दोनों सिद्धांत आपस में परस्पर संबंधित है। पुनर्जन्म का आधार जीवन का कर्म है। अपने कर्मों के अनुसार ही जीव विभिन्न योनियों में जन्म लेकर कर्मफल भोगता है। जो कुछ जीव कर्त्ता भाव से करता है उसका फल उसे अवश्य भोगना पड़ता है। जीव के वर्तमान अवस्था का कारण उसके पूर्व में किए गए कर्म ही हैं। कर्म सिद्धांत जगत के नैतिक व्यवस्था का आधार है, जो यह सिद्ध करता है कि जीव को प्राप्त होने वाले सुख या दुःख, किसी भी प्रकार के भोग अकारण नहीं प्राप्त होते हैं, उसके पीछे पूर्व में किए गए जीव के कर्म कारण के रूप में उपस्थित रहते हैं। कर्म सिद्धांत का यही तात्पर्य है कि इस जगत में कुछ भी आकस्मिक या अकारण नहीं है, सर्वत्र नैतिक व्यवस्था का साम्राज्य विद्यमान है, जिसे वेदों में 'ऋत' के नाम से जाना जाता है। कर्म सिद्धांत का मूल आधार वैदिक वाङ्गमय है। वहीं से समस्त विचारधाराओं ने इस सिद्धांत को ग्रहण किया है।

कर्म सिद्धांत एवं पुनर्जन्म भारतीय संप्रदायों का ऐसा वैशिष्ट्य है जिसे सभी समान रूप से स्वीकार करते हैं तथा जो समग्र भारतीय चिंतन को दुनिया के किसी भी अन्य चिंतन से विशेषता प्रदान करता है। यह सिद्धांत भारतीय संस्कृति का नियामक सिद्धांत है। भारतीय समाज पर इसका इतना व्यापक प्रभाव है कि यह कोई मायने नहीं रखता है कि कोई व्यक्ति किस दार्शनिक मतवाद को मानता है, अपितु यह महत्वपूर्ण है कि उसके कर्म किस प्रकार के हैं। यही कारण है कि समस्त भारतीय संप्रदायों में सत्य, अहिंसा, ब्रह्मचर्य, इंद्रिय निग्रह, परिग्रह, अस्तेय, शौच, संतोष आदि लगभग सभी सामान नैतिक मूल्यों एवं उदात्त गुणों को समान रूप से महत्व दिया गया है। कुछ वामाचारी मतों ने इसकी अवहेलना की जिन्हें समाज में व्यापक स्वीकृति कभी नहीं प्राप्त हुई और आज वे लुप्तप्राय है। भारतीय संस्कृति में व्यक्ति के विचार की अपेक्षा उसके आचार को अधिक महत्व दिया गया है। इसी कारण मत, पंथ एवं संप्रदाय में विचार को लेकर भले ही मतभेद हो परंतु सामाजिक आचरण की लगभग एक जैसी व्यवस्था सभी में समान रूप से पाई जाती है। किसी ने यह नहीं कहा कि झूठ बोलना, हिंसा कारना या चोरी करना धर्म है। किसी ने यह भी नहीं कहा कि जो हमारी मान्यता को स्वीकार न करे उसकी घात लगाकर हत्या करना धर्म है या हमारी मान्यता को जो स्वीकार नहीं करता उसे धरती पर जीने का अधिकार नहीं, बल्कि उन्होंने यह कहा कि कोई हमारी दार्शनिक मान्यता को समझे या न समझे, स्वीकार करे या न करे, लेकिन वह सदाचार का पालन करता है, सृष्टि के साथ सामंजस्य रखता है, उसके कर्मों में समष्टि के साथ लयबद्धता है तो वह धार्मिक है, क्योंकि वह सृष्टि की धारणा शक्ति के अनुकूल कार्य कर रहा है। वह धर्म को धारित कर रहा है इसलिए धर्म उसे धारित करेगा, क्योंकि हमारे शास्त्रों में धर्म कि परिभाषा यही मानी गई है, "धर्म को धर्म इसलिए कहा जाता है क्योंकि उसमें धारण करने कि शक्ति है, धर्म प्रजा यानी समाज को धारण करता है अर्थात सामंजस्य, संतुलन और एकजुटता स्थापित करता है। इसका अर्थ यह है कि जो धारण करने की क्षमता रखता है वही धर्म है, यह निश्चित है।"[6]

भारतीय चिंतन पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि प्रत्येक दार्शनिक विचार का प्रारंभ मनुष्य के व्यावहारिक जीवन में परिलक्षित होने वाले दुःखों एवं अपूर्णताओं से सदा के लिए मुक्ति प्राप्त करने के उद्देश्य से होता है। लौकिक संसार की अनित्यता, उसमें व्याप्त रोग, शोक, मृत्यु आदि व्याधियाँ तथा सामाजिक आचरण में व्याप्त राग, द्वेष,

लोभ, मोह, हिंसा आदि प्रवृत्तियाँ मनुष्य के अंतःचेतना को असंतुष्ट कर देती हैं तथा वह एक ऐसी अवस्था के विषय में चिंतन करना प्रारंभ कर देता है जो समस्त दुखों से रहित, पूर्ण एवं नित्य हो। अतः प्रत्येक भारतीय संप्रदाय के चिंतन की यह विशेषता है कि उसका प्रारंभ वर्तमान जीवन के असंतोष एवं अपूर्णता से प्रारंभ होकर पूर्णता एवं संतोष के आध्यात्मिक शिखर पर उसका पर्यवसान होता है। उपनिषदों का यह मानना है कि जो भूमा है अर्थात निरतिशय है, उससे बढ़कर कोई नहीं है, वही सुख है, अल्प में सुख नहीं है।[7] अर्थात वैदिक दर्शन व्यक्ति की अल्पता से पूर्णता की तरफ आरोहण का मार्ग प्रदर्शित करता है। व्यक्ति की अल्पता ही समस्त व्याधियों का कारण है, यह भावना प्रत्येक भारतीय संप्रदाय में परिलक्षित होती है। इस अल्पता के कारण को माया, अविद्या, आज्ञान, मल आदि नामों से संबोधित किया गया है। संसार में जितने बंधन है उनका एकमात्र कारण यही है। अविद्यादि से ही जगत में प्राणी अनेक दुःखों का भाजन बनता है तथा जन्म-मरण को प्राप्त होता है। इसके दूर होते ही व्यक्ति को अपने पूर्ण स्वरूप का बोध हो जाता है तथा वह सभी प्रकार के दुःखों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है। कुछ दार्शनिक संप्रदाय दुःख से मुक्ति की अवस्था में आनंद को नहीं स्वीकार करते, परन्तु दुःख से आत्यांतिक निवृत्ति

को जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य के रूप में सभी मानते हैं। यहां तक की वैदिक प्रमाण को न स्वीकार करने वाले बौद्धों ने भी चार आर्यसत्य के रूप में दु:ख, दु:ख का कारण, दु:ख निरोध एवं दु:ख निरोध के उपाय का वर्णन किया है, जिसमें अविद्या को ही दु:ख का मूल कारण माना गया है तथा अविद्या से निवृत्ति को ही दु:ख निरोध या निर्वाण के रूप में स्वीकार किया गया है। भारतीय चिंतन में दु:ख से निवृत्ति एवं स्वरूप का बोध ही जीवन का चरम लक्ष्य है, जिसकी प्राप्ति के लिए जीवगत अविद्या या अज्ञान को दूर करना सभी को एक समान रूप से स्वीकार है।

अविद्या, अज्ञान या माया को दूर करने के लिए केवल मान्यता नहीं बल्कि मनन पर जोर दिया गया है। स्वाध्याय, मनन और निदिध्यासन अर्थात सतत अभ्यास यही भारतीय संप्रदायों का वैशिष्ट्य है। ज्ञान मार्ग ही नहीं, भक्ति मार्ग और कर्म मार्ग का भी आधार मनन है। ज्ञानी तत्त्व का मनन करता है, भक्त भगवान का मनन करता है, तो कर्मयोगी करणीय और अकरणीय के भेद का मनन करता है। इनमें से कोई भी मनन रहित अभ्यास में प्रवृत्त नहीं होते, क्योंकि मनन के बिना उचित मार्ग का बोध ही संभव नहीं है, इसलिए मननशीलता मानव कि अद्वितीय विशेषता है। भारतीय संप्रदाय कभी भी व्यक्ति के चिंतन पर बंधन नहीं लगाते, अपितु चिंतन के लिए प्रोत्साहित करते हैं। बृहदारण्यकोपनिषद तो स्पष्ट घोषणा करता है कि आत्मा देखने अर्थात जानने योग्य, सुनने योग्य, मनन करने योग्य और अभ्यास यानी ध्यान करने योग्य है।[8] आत्मतत्त्व बोध के लिए देखना, सुनना, मनन करना और अनुभूति के धरातल पर अभ्यास करना इन सभी की आवश्यकता होती है। बिना मनन किए हम जो कहें उसे मान लो यह भारतीय संप्रदायों कि परंपरा नहीं है, इसलिए यहाँ कोई बात शास्त्रार्थ द्वारा स्वीकार की जाती है शस्त्रपात द्वारा स्वीकार नहीं कराई जाती।

इन आधारभूत सिद्धांतों की एकता पर आधारित भारत भूमि में उद्भूत भिन्न-भिन्न संप्रदायों का समन्वित रूप को सदियों से हिंदू के नाम से संबोधित किया जाता है। मान्यता यह है कि परकीय आक्रमणकारियों ने हमें हिंदू कहा है, लेकिन जिसने भी हिंदू कहा उसने समस्त भारत-भूमि पर पल्लवित-पुष्पित सभी मत, पंथ, संप्रदायों को हिंदू नाम से अभिहित किया था, न कि किसी विशेष को अलग कर। समुच्चय के रूप में इनकी सत्ता एक संस्कृति को जन्म देती है, जिसे हिंदू संस्कृति कहते हैं, जिसमें न तो कोई अधिक हिंदू है, न कोई कम, सभी समान रूप से हिंदू हैं। हिंदुत्व एक महासागर के तुल्य है, जिसमें भिन्न-भिन्न संप्रदाय रूपी नदियाँ आकर विलीन हो जाती हैं और विलीन होने पर वह सागरमय हो जाती हैं तथा विभिन्न तरंगों के रूप में लहराती हुई एकमात्र समुद्र की ही शोभा बढ़ाती हैं और उसके महत्त्व की घोषणा करती हैं। ये सब मिलकर सागर का ही प्रतिनिधित्व करने लगती हैं। अत: हिंदू एक महान संस्कृति का नाम है न कि किसी संप्रदाय विशेष का।

हिंदुत्व उदारता, उदात्तता, सहिष्णुता, समन्वय एवं विश्वबंधुत्व से परिपूर्ण एक आदर्श भारतीय जीवन पद्धति का नाम है, जो कुछ आधारभूत सैद्धांतिक समानताओं के साथ समस्त भारतीय समाज को सदियों से एक सूत्र में आबद्ध किए हुए है। हिंदुत्व की व्यापक अवधारणा के अंतर्गत शैव, शाक्त, वैष्णव, बौद्ध, जैन, सिख, संतगण, आर्यसमाज, वनवासी-गिरिवासी सभी परंपराएँ समान रूप से अंतर्निहित है। अत: हिंदुत्व को संप्रदाय विशेष नहीं, अपितु भारत की ऐसी राष्ट्रीयता कहा जा सकता है, जिसका उद्भव, विकास, श्रद्धा, आस्था एवं विश्वास सभी कुछ पवित्र भारत भूमि से ही जुड़ा हुआ है।

कालक्रम में कितने संप्रदाय उत्पन्न होकर नष्ट हो चुके हैं, नष्ट होंगे और हो रहे हैं पर भारतीय संस्कृति की अंत:चेतना, जिसे हिंदुत्व कहते हैं वह इन सबसे ऊपर है और अमर है। वह न कभी नष्ट हुई है ना होने वाली है, क्योंकि जब व्यक्ति या समाज सभी आग्रहों से मुक्त होकर अपने स्वत्व की खोज की दिशा में अग्रसर होगा, जब कभी मनुष्य के अंदर यह प्रश्न उठेगा कि मैं कौन हूं, मेरा अस्तित्व क्या है, यह संसार क्या है, इसके साथ हमारा संबंध क्या है इत्यादि-इत्यादि, ऐसी अवस्था में मनुष्य को इसका समाधान किसी बाहरी व्यक्ति या संसार से न मिलने पर ज्यों ही अपने स्वयं में खोजने का प्रयास करेगा तभी उसके अंदर का हिंदुत्व प्रस्फुटित हो जाएगा तथा वह भाषा, स्थान एवं काल आदि के भेद से ऊपर उठकर विश्वबंधुत्व एवं जगत कल्याण की भावना से ओत-प्रोत हो जाएगा। इसके विपरीत जब तक व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति या वाह्य जगत में उपरोक्त प्रश्नों का समाधान ढूंढेगा तब तक उसे सर्वत्र भेद एवं संघर्ष का ही दर्शन होगा। यह स्वयं के द्वारा अपने अंदर ही इन प्रश्नों के समाधान की कला ही अध्यात्म है, यही वेदों का मूलतत्त्व है, यही भारतीय संस्कृति की आत्मा है, यही हिंदुत्व है और यही भारत की राष्ट्रीयता है। इस प्रवृत्ति को भारतीय समाज से समाप्त होने की बात सोची भी नहीं जा सकती। यह आध्यात्मिकता की अधिष्ठान का ही परिणाम है कि राष्ट्र पर अनेक आक्रमण हुए, अनेक जातियाँ बाहर से आई, नए साम्राज्यों की नींव पड़ी, प्राचीन वंश विनष्ट हुए, समाज को अनेक प्रकार के कष्टों का सामना करना पड़ा, परंतु इन आक्रमणों एवं हलचलों से हिंदू संस्कृति के प्रवाह को अवरोधित नहीं किया जा सका। हिंदू समाज के आंतरिक जीवन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। युग बीतते गए, किंतु भारतीय संस्कृति की मूल धारा आज तक वही है- आत्मशुद्धि, त्याग और तप युक्त जीवन के माध्यम से एक ही स्वर का गान करते आ रही है "असत् से सत् की ओर चलो, अंधकार से प्रकाश की ओर चलो तथा मृत्यु से अमृतत्त्व की ओर चलो, चलते जाना चलते जाना, चरैवेति-चरैवेति"[9]। यही भारतीय संस्कृति कि चेतना और उसमें उद्भूत संप्रदायों का ध्येय है।

संदर्भ-

1. भारतीय दर्शन, *डॉ. राधाकृष्णन*, खंड-1 , पृष्ठ-34
2. *श्रीमद्भागवत पुराण* -1/2/1
3. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। -2/9
4. एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्तिद्य ऋग्वेद 1/164/46
5. रुचीनां वैचित्र्याद्दजुकुटिल नानापथजुषां। नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।। शिवमहिम्न स्तोत्र- ७
6. धारणात् धर्म इत्याहु: धर्मो धारयति प्रजा:। य: स्यात् धारणसंयुक्त: स धर्म इति निश्चय:।। *महाभारत* 12/ 109/11
7. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखंद्य छान्दोग्योपनिषद् 7/23
8. आत्मा वा अरे द्रष्टव्य: श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य:। बृहदारण्यकोपनिषद् 2/4/5
9. वृहदारण्यकोपनिषद्, 1/3/28

प्रो. मजहर आसिफ

शब्दोत्पत्ति: हिंद और हिंदुस्तान

इतिहास के विभिन्न कालखंडों में भारतवर्ष को कई नामों से जाना गया है। इन्हीं में एक है हिंद या हिंदुस्तान। इस नाम के आशयों में आए बदलावों का एक अध्ययन

भारत को इतिहास में अनेक नामों से जाना गया है - प्राचीन वैदिक साहित्य में जम्बूद्वीप और आर्यावर्त से लेकर आधुनिक संवैधानिक नाम भारत और विदेशी उद्गम वाले नाम इंडिया तक। इन नामों में दो महत्वपूर्ण पद हैं - 'हिंद' और 'हिंदुस्तान', जिनकी उत्पत्ति विदेशियों द्वारा हुई लेकिन जो सदियों से उपमहाद्वीप की पहचान बन चुके हैं। इस लेख में हम हिंद शब्द की जड़ें संस्कृत 'सिंधु' से लेकर फारसी, अरबी और यूनानी स्रोतों में इसके आद्य-प्रयोग की खोज करेंगे; मध्यकालीन इस्लामी संसार में 'हिंद' के अर्थ-परिवर्तन और प्रयोग को देखेंगे; इसी क्रम में 'हिंदुस्तान' शब्द के उद्भव को दिल्ली सल्तनत, मुगल काल से ब्रिटिश काल तक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में समझेंगे; तथा भूगोल और भाषा के प्रभाव से हिंद और हिंदुस्तान के भौगोलिक व सांस्कृतिक आशयों में आए बदलावों का विश्लेषण करेंगे।

'हिंद' शब्द की उत्पत्ति और प्राचीन उल्लेख

प्राचीन संस्कृत साहित्य में भौगोलिक पहचान के लिए सिंधु शब्द प्रधान था, जिसका मूल अर्थ नदी (विशेषत: आधुनिक सिंधु नदी) था। ऋग्वेद में सप्त सैंधव: (सात नदियाँ) का उल्लेख मिलता है, जिससे तात्पर्य उत्तरी-पश्चिमी भारत का वह क्षेत्र है जहां सिंधु सहित उसकी सहायक नदियाँ बहती थीं[1]। सप्त-सिंधुक्षेत्र को बाद के साहित्य में भी भारत के एक प्राचीन नाम के रूप में याद किया गया। संस्कृत सिंधु शब्द से ही अगली कड़ी में ईरानी-फारसी भाषाओं में हिंद शब्द का उदय हुआ। दरअसल 850-600 ई.पू. के बीच प्रोटो-ईरानी भाषा-परिवार में ध्वनि परिवर्तन से संस्कृत का 'स' ध्वनि 'ह' में बदल गया[2]। फलत: सिंधु का उच्चारण ईरानियों ने हिंदु के रूप में किया। यही रूप आगे चलकर 'हिंद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

फारसी स्रोतों में इस रूपांतरण के प्राचीन साक्ष्य मिलते हैं। पारसी धर्म ग्रंथ अवस्ता के वेंदिदाद (प्रथम अध्याय) में ईरानियों द्वारा जाने गए 16 देशों की सूची है, जिसमें पंद्रहवें देश के रूप में हप्त हिंदु (सप्त सिंधु) का वर्णन है। अवस्ताई भाषा में कहा गया है: "मैं (अहुरा मज्दा) ने पंद्रहवाँ श्रेष्ठ देश 'हप्त हिंदु' बनाया, जो हिंदु नदी के पूर्व से लेकर पश्चिम तक फैला है"[3] - यहाँ हिंदु से तात्पर्य सिंधु नदी से है। इस प्रकार ६ठी शताब्दी ई.पू. तक भारतीय उपमहाद्वीप का पश्चिमोत्तर हिस्सा ईरानी परंपरा में हिंदु या हिंद नाम से जाना जाने लगा था। इसकी पुष्टि फारस के हख़ामनी शासक देरियस प्रथम के शिलालेखों से भी होती है, जिनमें सिंधु घाटी के प्रांत को पुरानी फारसी लिपि में 'हिंदु श' लिखा गया - यह देरियस द्वारा विजित एक सत्रप (प्रांत) था[4]। विद्वानों के अनुसार यह हिंदु शब्द संस्कृत सिंधु से व्युत्पन्न था। यूनानी इतिहासकार हेरोडोटस ने भी लिखा है कि फारस के साम्राज्य का पूर्वतम प्रांत इंडिया था और वहाँ से सोने की भरपूर खिराज दरिया को मिलती थी। वास्तव में, फारसी साम्राज्य में सिंधु-पार के उस प्रदेश को यूनानी लोग 'इंदोइ' (Indoi) कहने लगे - यह उन्हीं हिंदु का रूपांतर था[5]। इस प्रकार पूर्व क्लासिकल काल तक बाहरी दुनिया में हिंद/इंड शब्द भारतीय उपमहाद्वीप

(विशेषकर वर्तमान पाकिस्तान-पंजाब क्षेत्र) के लिए प्रचलित हो चुका था। ध्यान देने योग्य बात है कि इन प्राचीन उल्लेखों में हिंद एक भौगोलिक क्षेत्र का नाम था, न कि किसी धर्म या जाति का - यह विभेद बाद के युगों की देन है।

अरब-इस्लामी तथा मध्य एशियाई स्रोतों में 'हिंद'

7वीं सदी में इस्लाम के उदय के बाद अरबों के लिए भारत का यही नाम 'अल-हिंद' के रूप में प्रचलित हुआ। अरब भूगोलवेत्ताओं और इतिहासकारों ने हिंद शब्द का प्रयोग पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के लिए व्यापक अर्थ में किया। उदाहरणतः 10वीं सदी के प्रसिद्ध मुस्लिम इतिहासकार अल-मसूदी मुल्तान के सूर्य-मंदिर का वर्णन करते हुए लिखते हैं: "मुल्तान... हिंद और सिंध के काफ़िरों (ग़ैर-मुस्लिमों) का महान तीर्थ स्थल है... सिंध और हिंद के निवासी दूर-दूर से वहाँ चढ़ावा चढ़ाने आते हैं"[6]। यहाँ हिंद के निवासी से तात्पर्य समूचे उत्तरी भारत के लोगों से है। इसी तरह 9वीं-10वीं सदी के अन्य अरब लेखक - इस्ताख़री, इब्न हौक़ल, इब्न ख़ुरदादबिह् आदि - की रचनाओं में अल-हिंद एक विस्तृत इलाके का द्योतक था जिसमें सिंधु से लेकर बंगाल तक के क्षेत्र शामिल थे। अरब समुद्री यात्रा वृत्तांतों में हिंद की भूमि के अलावा 'बह्र अल-हिंद' (हिंद का सागर, अर्थात् हिंद महासागर) का जिक्र मिलता है - यह संकेत करता है कि अरब दृष्टि में हिंद का भू-परिक्षेत्र समुद्र तक फैला हुआ था। ख़लीफा काल में अरब सेनाओं ने सिंध पर आक्रमण (711 ई.) किए और उस विजय का वर्णन फ़ुतूह-अल-हिंद (हिंद की विजय) के रूप में किया गया। इस्लामी विश्व में 'हिंद' इतनी प्रसिद्ध भौगोलिक संज्ञा बन चुका था कि अरब कवियों व पैगम्बर मुहम्मद के समय की हदीसों तक में हिंद का उल्लेख मिलता है (उदाहरणतः तथाकथित 'ग़ज़्वा-ए-हिंद' या हिंद के अभियान की बात, यद्यपि इन कथाओं का ऐतिहासिक सत्य विवादित है)। कुल मिलाकर, मध्य युग के आरंभ तक हिंद शब्द इस्लामी संस्कृति में भारतीय उपमहाद्वीप के लिए स्थायी रूप से स्थापित हो गया था।

11वीं सदी में मध्य एशिया से मुस्लिम आक्रमणों ने उत्तर भारत में नए राजवंश स्थापित किए, जिससे 'हिंद' शब्द का प्रयोग मुस्लिम शासकों की पदवी और इतिहास लेखन में भी होने लगा। प्रतिष्ठित फ़ारसी विद्वान अल-बिरूनी (973-1048) ग़ज़नी के सुल्तान महमूद के साथ भारत आए और यहाँ के समाज, धर्म और विज्ञान पर प्रसिद्ध ग्रंथ 'किताबुल-हिंद' (यानि तारीख़-उल-हिंद या 'भारत का विवरण') अरबी में लिखा। अल-बिरूनी ने अपने इस ग्रंथ में हिंद की परिधि, परंपराओं और ज्ञान-विज्ञान का वस्तुनिष्ठ अध्ययन प्रस्तुत किया। वह बताते हैं कि भारतीय अपने ज्ञान को साझा करने में अनिच्छुक हैं और सांस्कृतिक गर्व से भरे हैं। अल-बिरूनी भारतीयों की मनोभावना पर टिप्पणी करते हुए लिखते हैं: "हिंदुओं का विश्वास है कि उनके देश जैसा कोई देश नहीं, उनकी जाति जैसी कोई जाति नहीं, उनके राजा जैसे राजा और न उनके धर्म जैसा कोई धर्म, न उनके विज्ञान जैसा ज्ञान संसार में कहीं और है"[7]। इस वर्णन से स्पष्ट होता है कि 11वीं सदी तक आते-आते बाहरी लोग हिंद को एक सांस्कृतिक इकाई के रूप में भी समझने लगे थे, भले भारतीय स्वयं इस शब्द का प्रयोग अपनी पहचान के लिए नगण्य रूप से करते थे। अल-बिरूनी लिखते हैं कि उनके समय के हिंदू अपने को धार्मिक और सांस्कृतिक नामों से जानते थे, न कि हिंद शब्द से - यह नामकरण मुख्यतः बाहरी है[8]।

13वीं-14वीं शताब्दी के दौरान दिल्ली सल्तनत के स्थापनों के साथ, हिंद शब्द मुस्लिम सत्ता के प्रसंग में खुद भारतीय लेखकों द्वारा भी अपनाया जाने लगा। मरकज दिल्ली के सूफी-कवि अमीर खुसरो (1253-1325) अपने फारसी कविताओं में हिंदुस्तानकी बार-बार वकालत करते हैं। उन्हें अपने भारत-प्रेम के कारण 'तूती-ए-हिंद' (हिंद का तोता) की उपाधि मिली थी[9]। खुसरो की रचनाओं से पता चलता है कि उस दौर तक हिंद केवल भौगोलिक ही नहीं बल्कि भावनात्मक मातृभूमि का भी द्योतक बन रहा था। खुसरो एक स्थान पर दिल्ली की विद्वत्ता की प्रशंसा करते हुए लिखते हैं: "शाद बाद हिंदुस्तान, के मजहब (धर्म) की चमक से जगमग है; इल्म (ज्ञान) में अब दिल्ली बुखारा की बराबरी करती है, क्योंकि इसके बादशाहों ने इस्लाम को रोशन कर दिया है... हिन्द के सभी काफिर सर झुका चुके हैं और जजिया देकर जीने को तैयार हैं"[10]। यद्यपि यह कथन विजेताबोध से भरा है, मगर इसमें हिंदुस्तान को समग्र देश के अर्थ में प्रयोग करने का चलन परिलक्षित होता है।

7वीं सदी में इस्लाम के उदय के बाद अरबों के लिए भारत का यही नाम 'अल-हिंद' के रूप में प्रचलित हुआ। अरब भूगोलवेत्ताओं और इतिहासकारों ने हिंद शब्द का प्रयोग पूरे भारतीय उपमहाद्वीप के लिए व्यापक अर्थ में किया। उदाहरणतः 10वीं सदी के प्रसिद्ध मुस्लिम इतिहासकार अल-मसूदी मुल्तान के सूर्य-मंदिर का वर्णन करते हुए लिखते हैं: "मुल्तान... हिंद और सिंध के काफ़िरों (ग़ैर-मुस्लिमों) का महान तीर्थ स्थल है... सिंध और हिंद के निवासी दूर-दूर से वहाँ चढ़ावा चढ़ाने आते हैं"। यहाँ हिंद के निवासी से तात्पर्य समूचे उत्तरी भारत के लोगों से है। इसी तरह 9वीं-10वीं सदी के अन्य अरब लेखक - इस्ताख़री, इब्न हौक़ल, इब्न ख़ुरदादबिह् आदि - की रचनाओं में अल-हिंद एक विस्तृत इलाके का द्योतक था जिसमें सिंधु से लेकर बंगाल तक के क्षेत्र शामिल थे

अमीर खुसरो से लेकर उनके समकालीन इतिहासकार जियाउद्दीन बरनी तक, सबने हिंद शब्द को मुसलमान शासकों के शासन-क्षेत्र या सामान्यत: भारत भूमि के अर्थों में इस्तेमाल किया है। इस तरह 14वीं सदी तक 'हिंद' शब्द अरब-फ़ारसी लेखनी में भारत और उसकी सभ्यता का पर्याय बन चुका था। मोरक्को से आए मशहूर यात्री इब्न बतूता (1304-1369) ने भी दिल्ली सल्तनत में काजी पद पर वर्षों सेवाएँ दीं और अपने सफरनामा (यात्रावृत्त) में हिंद को विस्तृत रूप से वर्णित किया। उन्होंने दिल्ली के सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक को 'शाह-ए-सिंध व हिंद' (सिंध एवं हिंद का शहंशाह) उपाधि दी है[11], जिससे स्पष्ट होता है कि उस काल के मुस्लिम शासक खुद को हिंद का अधिपति मानने लगे थे।

दिल्ली सल्तनत काल में विदेशी और देशी फारसी स्रोत हिंदुस्तान शब्द का उपयोग करने लगे थे। तैमूरी इतिहासकार अपने विवरणों में गौर करते हैं कि हिंदुस्तान दिल्ली-आधारित सल्तनत का इलाक़ा है। 16वीं सदी की शुरुआत में बाबर जब मध्य एशिया से भारत आए, तो उन्होंने अपनी मातृभाषा चगताई तुर्की में लिखा बाबरनामा में हिंदुस्तान शब्द का बारंबार इस्तेमाल किया। बाबर के लेखन से हमें उस युग में हिंदुस्तान की भौगोलिक समझ का पता चलता है। वे लिखते हैं: "हिंदुस्तान विशाल देश है, जनसंख्या और पैदावार से भरपूर। इसके पूरब, दक्षिण और पश्चिम - तीनों ओर विशाल समुद्र इसकी सीमाएँ बनाते हैं। उत्तर दिशा में इसके पहाड़ (हिमालय) हैं जो हिंदूकुश और कश्मीर से आ मिलते हैं। उत्तर-पश्चिम में काबुल, गजनी और कंधार हैं। पूरे हिंदुस्तान की राजधानी दिल्ली को माना जाता है

'हिंदुस्तान' शब्द का उद्‌भव और ऐतिहासिक विकास

हिंदुस्तान शब्द का स्रोत फारसी भाषा है, जिसमें -स्तान प्रत्यय जोड़कर भूमि या देश का बोध कराया जाता है (जैसे फारसी में तुर्किस्तान - तुर्को की भूमि, अफगानिस्तान - अफगानों की भूमि आदि)। मूल रूप से हिंदुस्तान का शाब्दिक अर्थ हुआ 'हिंद की भूमि' - अर्थात् हिंद (भारत) देश। यह शब्द कब से प्रचलन में आया, इसका ठीक समय अनिश्चित है, किन्तु संकेत मिलते हैं कि इस्लाम पूर्व काल में भी संभवत: यह पद प्रयोग हुआ था। कुछ विद्वानों का मत है कि 3री सदी ईस्वी के सासानी सम्राट शापुर प्रथम के नक़्श-ए-रुस्तम शिलालेख में हिंदुस्थान शब्द आया है (हालांकि वहाँ संदर्भ (सिंध) क्षेत्र का हो सकता है). व्यापक तौर पर, हिंदुस्तान शब्द मध्यकाल में मुसलमान फारसी लेखकों और आसपास की उस राजनैतिक इकाई के लिए चलन में आया जिसे हम उत्तरी भारत कहते हैं।

दिल्ली सल्तनत काल में विदेशी और देशी फारसी स्रोत हिंदुस्तान शब्द का उपयोग करने लगे थे। तैमूरी इतिहासकार अपने विवरणों में गौर करते हैं कि हिंदुस्तान दिल्ली-आधारित सल्तनत का इलाक़ा है। 16वीं सदी की शुरुआत में बाबर जब मध्य एशिया से भारत आए, तो उन्होंने अपनी मातृभाषा चगताई तुर्की में लिखा बाबरनामा में हिंदुस्तान शब्द का बारंबार इस्तेमाल किया। बाबर के लेखन से हमें उस युग में हिंदुस्तान की भौगोलिक समझ का पता चलता है। वे लिखते हैं: "हिंदुस्तान विशाल देश है, जनसंख्या और पैदावार से भरपूर। इसके पूरब, दक्षिण और पश्चिम - तीनों ओर विशाल समुद्र इसकी सीमाएँ बनाते हैं। उत्तर दिशा में इसके पहाड़ (हिमालय) हैं जो हिंदूकुश और कश्मीर से आ मिलते हैं। उत्तर-पश्चिम में काबुल, गजनी और कंधार हैं। पूरे हिंदुस्तान की राजधानी दिल्ली को माना जाता है।"[12] बाबर आगे हिंदुस्तान की भौगोलिक व सांस्कृतिक विशेषताओं पर अपनी मिश्रित राय देते हैं - मसलन वे यहाँ के मैदानों, मानसूनी जंगलों, फसलों आदि का जिक्र करते हैं। बाबरनामा से स्पष्ट है कि हिंदुस्तान शब्द बाबर के समय तक एक सुव्याख्यायित भौगोलिक इकाई बन चुका था, जिसकी सीमाएँ उत्तर में पर्वत और शेष ओर समुद्र थे और जिसकी एक व्यापक सांस्कृतिक पहचान थी, यद्यपि बाबर एक विदेशी की नजर से इसकी कुछ चीजों की आलोचना भी करते हैं। बाबर के वंशज मुगल सम्राटों ने हिंदुस्तान को अपने सिक्कों, शिलालेखों और फरमानों में ख़ूब जगह दी। अकबर के दरबारी इतिहासकार अबुल फ़ज़्ल ने *आइने-अकबरी* में हिंदुस्तान की जलवायु, कृषि, भूगोल का विस्तार से वर्णन किया है और इसे तमाम गुणों वाला "जमीं-ए-पाक" (पवित्र भूमि) कहा है। अबुल फ़ज़्ल हिंदुस्तान को पृथ्वी का स्वर्ग बताते हुए लिखते हैं कि यहाँ की धरती इतनी उर्वर है और लोग इतने कर्मठ कि यह देश 'जन्नत निशान' कहा जा सकता है। इसी प्रकार, सत्रहवीं सदी के इतिहासकार मुहम्मद क़ासिम फरिश्ता ने अपने ग्रंथ तारीख़-ए-फरिश्ता (जिसे गुलशन-ए-इब्राहिमी भी कहते हैं) में प्राचीन महाभारत काल से लेकर मध्यकाल तक की पूरी कथा को हिंदुस्तान के सिलसिलेवार इतिहास के रूप में पेश किया है[13]। फरिश्ता का यह कार्य एक प्रकार से हिंदुस्तान की अवधारणा को सुदृढ़ करता है - वह हिंदुस्तान को विविध धर्मों और राजवंशों वाला विशाल देश मानते हैं जिसकी ऐतिहासिक एकता संस्कृति और स्थान की एकता है। दिलचस्प बात यह है कि फरिश्ता ने दक्षिण के अहमदनगर-बिजापुर जैसे दक्खिनी सल्तनतों को भी हिंदुस्तान के इतिहास में बराबर शामिल किया है, न कि केवल उत्तर भारत को। इससे पता चलता है कि मुगलकाल तक आते-आते हिंदुस्तान शब्द सिर्फ उत्तरी भारत ही नहीं

बल्कि पूरे उपमहाद्वीप (खासकर समूचे इंडो-गंगीय+ दक्खन) के लिए प्रयुक्त होने लगा था। इस दौर में हिंदुस्तानी शब्द भाषा और संस्कृति के सन्दर्भ में भी उभरा - मध्यकाल में 'हिंदवी' या 'हिंदुस्तानी' भाषा से तात्पर्य उस मिली-जुली खड़ी बोली से था, जो आगे चलकर हिंदी-उर्दू का आधार बनी।

ब्रिटिश काल के प्रारंभ (18वीं शताब्दी) तक हिंदुस्तान शब्द का उपयोग यूरोपियों द्वारा भी भारत के लिए व्यापक तौर पर होने लगा। अंग्रेज यात्रियों और ईस्ट इंडिया कम्पनी के दस्तावेजों में 17वीं-18वीं सदी में भारत को अक्सर Hindostan या Hindustan लिखा गया है। उदाहरणस्वरूप 1788 में अंग्रेज मानचित्रकार मेजर जेम्स रेनल ने भारत का एक विस्तृत नक्शा बनाया जिसका शीर्षक "Memoir of a Map of Hindoostan" था[14]। यानि उस समय तक अंग्रेजों के लिए भी हिंदुस्तान, पूरे भारतीय उपमहाद्वीप (मुख्यत: मुगल साम्राज्य के इलाकों) का प्रचलित नाम था। 19वीं सदी में ब्रिटिश शासन ने भारत के लिए आधिकारिक नामइंडियाको ही अपनाया, क्योंकि यह अंग्रेजी में प्रचलित था; लेकिन साथ ही उन्होंने उत्तर भारत को भौगोलिक दृष्टि से हिंदोस्तान क्षेत्र के रूप में भी परिभाषित किया। एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका के अनुसार हिंदुस्तान शब्द ऐतिहासिक रूप से विशेषकर उत्तरी भारत - पंजाब और गंगा-यमुना के मैदान - के लिए प्रयुक्त रहा, हालाँकि कभी-कभी इसे पूरे भारत का पर्याय भी माना गया है[15]। ब्रिटिश काल में ही हिंदुस्तानी शब्द भाषा (हिंदुस्तानी भाषा) और वहां के लोगों की सांस्कृतिक पहचान के लिए चलन में आया। उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक अंग्रेजी में Hindoo शब्द भारतीय उपमहाद्वीप के निवासियों (विशेषकर गैर-इसाई, गैर-मुस्लिम) के लिए प्रयुक्त होता था, जिससे Hindu शब्द का धार्मिक अर्थ भी विकसित हुआ। लेकिन आधुनिक इतिहासकारों ने रेखांकित किया है कि हिंद या हिंदुस्तान मूलत: धार्मिक नहीं बल्कि भौगोलिक-सांस्कृतिक संज्ञा थी[16]। इसका धर्म विशेष से संबंध बाद की व्याख्याओं ने जोड़ दिया, मूल स्रोतों ने नहीं। उदाहरणस्वरूप फारसी-तुर्की स्रोतों में 'हिंदुस्तान के बादशाह' का आशय वहाँ के सभी निवासियों (हिंदू-मुस्लिम-सिख इत्यादि) पर शासन से था, न कि केवल हिंदू धर्मानुयायियों पर। इसी प्रकार ब्रिटिश काल में उर्दू के प्रसिद्ध शायर मुहम्मद इक़बाल ने जब 1905 में तराना लिखा "सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्तां हमारा", तो हिंदोस्तां सभी भारतीयों की साझी मातृभूमि के अर्थ में ही प्रयुक्त हुआ[17]। बीसवीं सदी के आरंभ में हिंदुस्तान शब्द भारतीय राष्ट्रवाद के विमर्श का हिस्सा बन चुका था, हालाँकि राजनैतिक तौर पर अंग्रेजों ने इसे आधिकारिक नाम नहीं बनने दिया। अंतत: 1947 में देश के विभाजन के बाद भारत के लिए 'इंडिया कि भारत' संवैधानिक नाम तय हुआ, परंतु आज भी हिंदी भाषा में हिंदुस्तान शब्द समानांतर रूप से प्रचलित है और भावनात्मक तौर पर देशवासियों द्वारा प्रयुक्त होता है। उदाहरण के लिए, स्वतंत्रता के बाद बनी कई संस्थाओं (हिंदुस्तान एरोनॉटिक्स, हिंदुस्तान शिपयार्ड आदि) तथा लोकप्रिय संगीत/फिल्मों में 'हिंदुस्तान' शब्द निरंतर देखने को मिलता है। स्पष्ट है कि यद्यपि हिंदुस्तान शब्द की जड़ें विदेशी है, पर समय के साथ यह भारत की आत्मपरिभाषा का अभिन्न हिस्सा बन गया है।

हिंद और हिंदुस्तान शब्दों के भौगोलिक अर्थ विभिन्न युगों में परिवर्तनशील रहे हैं। आरंभिक फारसी व अरबी लेखन में हिंद सिंधु नदी से लेकर गंगा के मैदान तक फैले समूचे भूभाग का द्योतक था, जिसमें वर्तमान पाकिस्तान, उत्तर भारत और कभी-कभी बंगाल तक शामिल थे। परंतु मध्यकाल में स्वयं भारतीय दृष्टिकोण से हिंदुस्तान का आशय प्राय: उत्तरी भारत के उस क्षेत्र से होता था जहाँ हिंदवी/ हिंदुस्तानी जबान और इंडो-गंगेटिक संस्कृति प्रमुख थी। दक्षिण के दक्खिनी इलाकों को अनेक बार इससे अलग रखा जाता था - जैसे दक्खन बनाम हिंदुस्तान की भौगोलिक रैखाएँ खींची गई। फिर भी, मुगल काल तक अधिकांश भारत (विशेषकर जो उनके नियंत्रण में था) को सामूहिक रूप से हिंदुस्तान कहा जाने लगा

क्षेत्रीय और भाषिक संदर्भ में अर्थ परिवर्तन

हिंद और हिंदुस्तान शब्दों के भौगोलिक अर्थ विभिन्न युगों में परिवर्तनशील रहे हैं। आरंभिक फारसी व अरबी लेखन में हिंद सिंधु नदी से लेकर गंगा के मैदान तक फैले समूचे भूभाग का द्योतक था, जिसमें वर्तमान पाकिस्तान, उत्तर भारत और कभी-कभी बंगाल तक शामिल थे। परंतु मध्यकाल में स्वयं भारतीय दृष्टिकोण से हिंदुस्तान का आशय प्राय: उत्तरी भारत के उस क्षेत्र से होता था जहाँ हिंदवी/हिंदुस्तानी जबान और इंडो-गंगेटिक संस्कृति प्रमुख थी। दक्षिण के दक्खिनी इलाकों को अनेक बार इससे अलग रखा जाता था - जैसे दक्खन बनाम हिंदुस्तान की भौगोलिक रैखाएँ खींची गई। फिर भी, मुगल काल तक अधिकांश भारत (विशेषकर जो उनके नियंत्रण में था) को सामूहिक रूप से हिंदुस्तान कहा जाने लगा। मुगल बादशाह अपने को शाहंशाह-ए-हिंदुस्तान लिखते थे, चाहे उनका साम्राज्य दक्षिण में द्रविड़ क्षेत्रों तक विस्तृत न भी रहा हो। क्षेत्रीय संदर्भ में अंतर यह दिखता है कि जहाँ एक ओर विदेशी लेखक कभी-कभी हिंदुस्तान में भारत के सभी क्षेत्र (उत्तर से दक्षिण तक) शामिल मानते थे, वहीं उत्तर भारत के लोग प्राय: अपने इलाके को हिंदुस्तान कहकर दक्षिण को अलग बताते थे। उदाहरणत: मराठा सूत्रों में उत्तर भारत को हिंदुस्तान कहा गया है। उधर अंग्रेजों ने भी

पहले-पहल हिंदुस्तान नाम का प्रयोग पूरे उपमहाद्वीप के लिए किया, लेकिन धीरे-धीरे उन्होंने इसे मुख्यत: गंगा-सिंधु के मैदानी क्षेत्रों तक सीमित कर दिया और शेष भारत को प्रेसीडेंसी सूबों (बंगाल, मद्रास, बॉम्बे) आदि नामों से पुकारा। भाषिक दृष्टि से हिंदुस्तानी शब्द ने उर्दू-हिंदी भाषा की संज्ञा ली, जो दिखाता है कि हिंदुस्तान की अवधारणा सांस्कृतिक इकाई के रूप में भी पनपी।

एक महत्वपूर्ण परिवर्तन धार्मिक पहचान का था। प्रारंभ में हिंदू शब्द किसी धर्म का नाम नहीं बल्कि भूगोल का सूचक था - ईरानी हिंदू उन सभी को कहते थे जो सिंधु के पार के निवासी थे। 11वीं-12वीं सदी तक मुस्लिम लेखकों ने हिंदू शब्द को भारत के गैर-मुस्लिम जनों (मुख्यत: उन मतावलंबियों जो वैदिक-पौराणिक धर्मों को मानते थे) के लिए उपयोग करना शुरू किया। इस तरह हिंदू एक धार्मिक समुदाय का नाम बन गया, और इसी से हिंदुस्तान को हिन्दुओं की भूमि का अर्थ दिया जाने लगा[18]। लेकिन इतिहासकार आगाह करते हैं कि यह बाद की व्याख्या है - मूल रूप में हिंदुस्तान का विचार बहुधार्मिक था। मध्यकालीन फारसी इतिहासकार फरिश्ता और बाद में आधुनिक चिंतक भी हिंदुस्तान को सभी धर्मों-जातियों का साझा आवास मानते थे[19]। मनन अहमद जैसे नवीन इतिहासकार बताते हैं कि औपनिवेशिक काल में यूरोपियों ने इंडिया को मुख्यत: हिंदू पहचान से जोड़कर देखा, जिससे पूर्ववर्ती बहुलतावादी हिंदुस्तान की अवधारणा कहीं खो गई[20]। फिर भी, स्वतंत्रता-पूर्व भारतीय राष्ट्रवादियों ने 'हिंदुस्तान' को समावेशी रूप में ही अपनाया था - जो किसी एक मजहब का नहीं बल्कि पूरी गतिशील संस्कृति का द्योतक था। आज भी हिंदुस्तान शब्द भारत के लिए भावनात्मक एवं काव्यात्मक संदर्भों में जीवित है, जबकि प्रशासनिक औपचारिकता में भारत और इंडिया का प्रयोग होता है।

अंत में, हिंद और हिंदुस्तान शब्दों की यात्रा यह दिखलाती है कि कैसे विदेशी भाषाओं द्वारा प्रदत्त नाम को एक सभ्यता आत्मसात कर लेती है और उसे अपनी पहचान का हिस्सा बना देती है। सिंधु नदी के नाम पर पड़ा हिंद शब्द शुरुवात में बाहरी लेबल था, लेकिन धीरे-धीरे हिंदुस्तान इस देश के निवासियों द्वारा अपने घर के नाम के रूप में अपनाया गया। इस नाम ने भौगोलिक अर्थ से आगे बढ़कर एक संस्कृति, एक भाव, और एक विचार का रूप ले लिया - जो धर्म-निरपेक्ष अर्थ में इस विशाल उपमहाद्वीप की साझा विरासत का प्रतीक है।

संदर्भ-

1. ऋग्वेद संहिता, मण्डल X, सूक्त 75, ऋचा 5 - नदी-स्तुति सूक्त में सप्त-सिंधु प्रदेश का उल्लेख। इसे सामान्यत: पंजाब क्षेत्र की पाँच प्रमुख नदियों सहित सिंधु और सरस्वती नदी के क्षेत्र के रूप में पहचाना जाता है
2. आस्को पर्पोला, द रूट्स ऑफ हिंदुइज्म, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रे अध्याय 9. Parpola ने दर्शाया है कि लगभग 850-600 ई.पू. के बीच प्रोटो-ईरानी में ध्वनि परिवर्तन होने से संस्कृत "स" →फ़ारसी "ह" में रूपांतरित हुआ, जिससे "सिंधु" > "हिंदु" हुआ।
3. जेन्द अवेस्त, वेंदिदाद, फर्गार्ड 1, श्लोक 18-19. अवस्ताईमतनका हिन्दी अनुवाद (जे० डार्मेस्टेटर के अंग्रेजी अनुवाद के आधार पर): "मैं, अहुरा मज़्दा, ने पंद्रहवें उत्कृष्ट स्थान के रूप में हप्त हिंदु (सप्त सिंधु) देश की सृष्टि की, जो हिंदु नदी के पूर्व से पश्चिम तक फैला है..."। यह अवस्तन पाठ में भारत का प्राचीनतम संदर्भ माना जाता है।
4. नक़्श-ए-रुस्तम शिलालेख (दरियस-I, लगभग 490 ई.पू.) - इसमें पुरानी फारसी लिपि में दर्ज प्रांतों की सूची में "Hidus" (हिंदुश) नामक प्रांत का उल्लेख है। विद्वानों के अनुसार यह हिंदुश सिंधु नदी की भूमि को इंगित करता है। देखें एनसाइक्लोपीडिया इरानिका (संपा. एहसान यारशातर, 1982) खंड 2, पृ.10.
5. हेरोडोटस, हिस्ट्रीज। (5वीं सदी ईसा पूर्व), पुस्तक III, परिच्छेद 94-95. हेरोडोटस ने फारसी साम्राज्य को 20 सत्रपियों में बांटा था और लिखा है कि "इंडोई" (भारतीय) बीसवाँ और सबसे पूर्व का प्रांत था, जो सोने का भारी वार्षिक कर देता था। यह यूनानियों द्वारा "हिंद" का रूपांतरण इंड नाम से करने का उदाहरण है।
6. अल-मसूदी, मुरूज अल-जहब (लगभग 943 ई.): मसूदी लिखते हैं कि मुल्तान में सूर्य-मंदिर इतना समृद्ध था "कि सिन्ध और हिंद के निवासी दूर-दराज स्थानों से वहाँ तीर्थ करने आते हैं और भारी धन-संपदा अर्पित करते हैं"। अनुवाद उद्धृत: इलियट एंड डासन, हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स, वॉल्यूम -(लंदन, 1867), p. 23
7. अल-बिरूनी, किताब-उल-हिंद (1030 CE), खंड I, पृ.22: (अनुवाद: सचाउ)। हिंदी अनुवाद: "हिंदुओं का मानना है कि उनके देश जैसा कोई देश नहीं, उनकी जाति जैसी कोई जाति नहीं, उनके राजा जैसे राजा, न उनका धर्म जैसा कोई धर्म, न उनका विज्ञान जैसा कोई विज्ञान कहीं है।" इस उद्धरण से हिंदुओं की उस काल की आत्मधारणा प्रकट होती है।
8. अल-बिरूनी, तहकीक़ मा लि-ल हिंद (1030 ई), प्रारंभिक परिच्छेद. अल-बिरूनी भारत को एक सांस्कृतिक-भौगोलिक इकाई मानते हैं। अंग्रेजी अनुवाद: अल बरुनीश्ज इंडिया, सं. एवं अनु. एडवर्ड सी. सचो (1888). उन्होंने हिंद (भारत) की सीमाएँ उत्तर में पर्वतों व शेष ओर समुद्रों से घिरी बताई, साथ ही हिंदुओं की संकीर्ण स्वभाव पर टिप्पणी की है।
9. अबुल हसन "अमीर" खुसरो (1253-1325) - प्रसिद्ध सूफी कवि व संगीतकार, जिन्हें उनके भारतीयता-भाव के कारण तूती-ए-हिंद ("भारत का तोता") कहा जाता था। यह उपाधि दर्शाती है कि खुसरो ने अपनी रचनाओं में हिंद (भारत) की वाणी को मुखर किया। संदर्भ: खुसरो जीवनी, एनसाइक्लोपीडिया ऑफ

इंडियन लिटरेचर, वॉल्यूम 2, साहित्य अकादेमी

10. अमीर खुसरो (1320 के करीब), फारसी मस्नवी नूह सिपहर. खुसरो ने हिंदुस्तान की प्रशंसा करते हुए लिखा: "धन्य है हिंदुस्तान, धर्म का वैभव, जहाँ कानून (इस्लाम) को पूर्ण सम्मान और सुरक्षा प्राप्त है। शिक्षा (ज्ञान) में दिल्ली अब बुखारा से मुकाबला कर सकती है, क्योंकि इस्लाम उसके राजाओं द्वारा प्रकट किया गया है..." (अनुवाद: v- शिम्मेल)। मूल फारसी में: "शाद बाद हिंदुस्तान, कि मरकज-ए-ईमाँ..." आदि पंक्तियाँ। इसमें दिल्ली सल्तनत द्वारा सारे हिंद में इस्लाम की विजय को कवि ने उल्लसित भाव से दर्शाया है। स्रोत: एनिमैरी शिमेल,... ऐंड मुहम्मद इज हिज मैसेंजर (यूएनसी प्रेस, 1985), p-205.

11. इब्न बतूता, रिहला (यात्रावृत्त, अरबी, 1355). इब्न बतूता ने दिल्ली के सुल्तान मोहम्मद बिन तुगलक को "मलिक-उल-सिंद वल-हिंद" (सिन्ध एवं हिंद का राजा) कहा है। यह विवरण उसके यात्रा संस्मरण के दिल्ली अध्याय में मिलता है - संदर्भ: एच. ए. आर. गिब, द ट्रैवेल्स ऑफ इब्न बतूता (कैम्ब्रिज, 1929) का अंग्रेजी अनुवाद।

12. जहिरुद्दीन मुहम्मद बाबर, बाबरनामा (तुर्की आत्मचरित, 1526-30). अंग्रेजी अनुवाद अन्नेट बिवरिज (1922) के अनुसार बाबर हिंदुस्तान की भौगोलिक सीमा बताते हैं: पूरब, दक्षिण और पश्चिम में यह बड़े महासागरों से घिरा है और उत्तर में पहाड़ हैं जो काफिरिस्तान और कश्मीर को जोड़ते हैं... दिल्ली पूरे हिंदुस्तान की राजधानी है (बाबरनामा, भाग II)। इसी पाठ में वे हिंदुस्तान की आंतरिक कमी-बेशी का भी उल्लेख करते हैं।

13. मुहम्मद कासिम फरिश्ता, तारीख़-ए-फरिश्ता (लगभग 1609). फरिश्ता का इतिहास ग्यारह खंडों में विभाजित है, जो लाहौर, दिल्ली, दक्खन, गुजरात, मालवा, ख़ानदेश, बंगाल, मुल्तान, सिंध, कश्मीर और मलबार के राजाओं का वृत्तांत प्रस्तुत करता है। फरिश्ता हिंदुस्तान की साझा संस्कृति पर concluding chapter में लिखते हैं और हिंदुस्तान को "जमीन पर जन्नत" सरीखा बताते हैं। मनन अहमद के अनुसार फरिश्ता का ग्रंथ हिंदुस्तान की अवधारणा का सबसे परिपूर्ण प्रतिपादन है (देखें: अंतिम अध्याय मनन अहमद, द लॉस ऑफ हिंदुस्ता

14. मेजर जेम्स रेनल, मेमायर ऑफ आ मैप ऑफ हिंदुस्ता (लंदन, 1788). यह 18वीं शताब्दी के अंत में बनाया गया विस्तृत मानचित्र था जिसमें पूरे भारतीय उपमहाद्वीप को "हिंदोस्तान" दर्शाया गया। इससे सिद्ध होता है कि उस दौर में यूरोपीय दृष्टि में "हिंदुस्तान" नाम पूरे भारत के लिए स्थापित था।

15. एन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका (ऑनलाइन संस्करण), ऐतिहासिक रूप से हिंदुस्तान के नाम से उस उत्तर भारतीय उप महाद्वीप को जाना जाता रहा है - खासकर सिंध और गंगा का मैदान और पंजाब - जो कि दक्कन से भिन्न है - कई बार इसका पूरे भारत के लिए एक पर्याय के रूप में किया गया है (ब्रिटानिका संपादक). इस परिभाषा से स्पष्ट है कि भौगोलिक संदर्भ के अनुसार हिंदुस्तान का आशय काल के अनुसार संकुचित या विस्तृत होता रहा।

16. "Hindustan" और "Hindu" के बीच संबंध: प्राचीन फारसी-इस्लामी स्रोतों में हिंदू शब्द का धार्मिक अर्थ नहीं था, यह सिर्फ भौगोलिक निवासियों के लिए था (सिन्धु पार के लोग)। बाद में मुस्लिम काल में हिंदू शब्द उपमहाद्वीप के उन मूल धर्मावलंबियों के लिए प्रयोग हुआ जो इस्लाम/ईसाइयत से इतर थे। इसलिए हिंदुस्तान को "हिंदुओं की धरती" अर्थ देना एक नवीन व्याख्या है - मूल ऐतिहासिक संदर्भ में हिंदुस्तान का अर्थ समग्र भारत-भूमि था, न कि विशेष धार्मिक भूखंड।

17. अल्लामा मुहम्मद इकबाल, "तराना-ए-हिन्दी" (1905) - "सारे जहाँ से अच्छा हिंदोस्ताँ हमारा" पंक्ति वाला प्रसिद्ध देशभक्ति गीत। इस गाने में हिंदोस्तां शब्द का प्रयोग संपूर्ण भारतवर्ष के लिए बड़े गर्व से किया गया है, जो दर्शाता है कि बीसवीं सदी की शुरुआत में भी आम जन के लिए यह शब्द मातृभूमि का भावनात्मक पर्याय था। आज भी यह गीत और हिंदुस्तान शब्द भारतवासियों की राष्ट्रभावना से जुड़े हुए हैं।

18. भूमि तों (यूनानी भाषा में "των" का उच्चारण "तों" होता है, जिसका अर्थ है "का/की/के")इस पूरे पद "भूमि των हिंदुओं" का हिंदी रूप होगा: "हिंदुओं की भूमि"

19. शिवाजी सिंह, 'इंडिया ऑर भारत: ऐन एनालिसिस ऑफ द ओरिजिन्स ऑफ द नेम्स' आउटलुक पत्रिका (सितंबर 2023) - इस लेख में लेखक बताते हैं कि भारत के तीन प्रचलित नामों (इंडिया, भारत, हिंदुस्तान) में से हिंद या हिंदुस्तान पूरी तरह बाहरी (एक्जोनिम) हैं जो सिंधु नदी के नाम पर आधारित हैं। ये नाम मूलत: भूगोलसूचक थे न कि धार्मिक। लेखक के अनुसार 'हिंदुस्तान' शब्द का हिंदू धर्म से कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं, यह तो पारसी/ईरानी स्रोतों से आया एक भौगोलिक नाम था जिसे बाद में हमने अपना लिया।

20. मनन अहमद आसिफ, द लॉस ऑफ हिंदुस्तान: द इन्वेंशन ऑफ इंडिया (हार्वर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, 2020 इस शोधग्रंथ में मनन अहमद ने लगभग 1000-1800 ई. के बीच लिखने वाले इतिहासकारों (जैसे फरिश्ता) के कार्यो का विश्लेषण करते हुए प्रतिपादित किया है कि उस दौर में हिंदुस्तान एक सुस्पष्ट सभ्यतागत पहचान थी। उपनिवेश काल में यूरोकेन्द्रित इतिहासलेखन के चलते हिंदुस्तान की वह बहुलतावादी अवधारणा लुप्तप्राय हो गई और उसकी जगह संकीर्ण "इंडिया" या धर्म-आधारित पहचानों ने ले ली। अहमद का तर्क है कि आज भारत, पाकिस्तान, बांग्लादेश भले अलग राष्ट्र हैं, पर वे एक साझा मध्यकालीन हिंदुस्तानी विरासत से निकले हैं।

श्री रामानन्द शर्मा

श्री अरविंद की दृष्टि में सनातन धर्म और भारतीयता

भारतीय आत्मा की शाश्वत चेतना का गहन दार्शनिक रूपांकन है श्री अरविंद का चिंतन। उनकी संकल्पना का एक विश्लेषण

श्री अरविंद का दृष्टिकोण, जो एक शताब्दी पूर्व प्रतिपादित हुआ, वर्तमान संदर्भों में और भी अधिक प्रासंगिक एवं भविष्यसूचक प्रतीत होता है। उनका चिंतन केवल औपनिवेशिक युग के राजनैतिक संघर्ष या राष्ट्रीय पुनर्जागरण तक सीमित नहीं था, बल्कि वह भारतीय आत्मा की शाश्वत चेतना का गहन दार्शनिक रूपांकन भी था। सनातन धर्म और भारतीयता पर उनका विचार भारत की आध्यात्मिक तथा सांस्कृतिक पहचान के लिए एक दूरदर्शी वैचारिक ढाँचा प्रस्तुत करता है, जो आज भी भारतीयता की व्याख्या और उसके भविष्य की दिशा के निर्धारण में निर्णायक भूमिका निभाता है।

इस शोध-आलेख में श्री अरविंद के दर्शन में प्रतिपादित सनातन धर्म और भारतीयता की संकल्पना का विश्लेषण किया गया है। उनके अनुसार, सनातन धर्म किसी संकीर्ण धार्मिक व्यवस्था का पर्याय नहीं, बल्कि वह मानवता को जीवन-पुष्टि और आध्यात्मिक उन्नयन की ओर ले जाने वाली सार्वभौमिक चेतना है। 'उत्तरपाड़ा व्याख्यान', 'एस्सेज ऑन द गीता' तथा 'द सीक्रेट ऑफ द वेदा' में यह स्पष्ट होता है कि सनातन धर्म भारत की आत्मा का शाश्वत आधार है, जो समय और परिस्थितियों के परिवर्तनों के बीच भी जीवंत बना रहता है।

साथ ही, भारतीयता को यहाँ भारत के सांस्कृतिक सार के रूप में उद्घाटित किया गया है, जिसकी जड़ें गहन वैदिक परंपराओं में निहित हैं और जिसने भारत को 'विश्व गुरु' की संकल्पना से जोड़ा है। श्री अरविंद के आध्यात्मिक राष्ट्रवाद और वेदांतिक सार्वभौमिकता का समन्वय समकालीन हिंदू पहचान, सांस्कृतिक राष्ट्रवाद तथा वैश्विक विमर्शों की बहसों में विशेष प्रासंगिकता रखता है। इस प्रकार, उनका चिंतन न केवल दार्शनिक मार्गदर्शन प्रदान करता है, बल्कि आधुनिक भारत की सांस्कृतिक आत्मा को वैश्विक स्तर पर एक सशक्त स्वर भी उपलब्ध कराता है।

प्रस्तावना

श्री अरविंद (1872-1950) भारतीय इतिहास के एक ऐसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व थे, जिनकी जीवनयात्रा क्रांतिकारी राष्ट्रवाद से आरंभ होकर एक गहन आध्यात्मिक दर्शन पर आकर पूर्ण हुई। उनके विचारों ने भारतीय राष्ट्रीय चेतना, सांस्कृतिक अस्मिता और स्वतंत्रता-संघर्ष की वैचारिक दिशा पर गहरा प्रभाव डाला। उनके चिंतन का मूल केंद्र सनातन धर्म और भारतीयता की अवधारणाएँ हैं, जिनके माध्यम से उन्होंने न केवल भारत की आत्मा को परिभाषित किया, बल्कि उसे वैश्विक संदर्भ में भी व्याख्यायित किया। बीसवीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों में, जब वे राष्ट्रवादी आंदोलन का नेतृत्व कर रहे थे, तब इन विचारों ने औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध संघर्ष को वैचारिक आधार प्रदान किया। किंतु बाद के वर्षों में, जब वे पांडिचेरी में अपने दार्शनिक चिंतन में निमग्न हुए, तब इन्हीं अवधारणाओं का विस्तार एक सार्वभौमिक और समन्वित आध्यात्मिक ढाँचे के रूप में सामने आया।

यह लेख श्री अरविंद की सनातन धर्म और भारतीयता संबंधी दृष्टि का राजनैतिक तथा आध्यात्मिक, दोनों आयामों में विश्लेषण प्रस्तुत करता है। इसमें यह स्पष्ट किया गया है कि किस प्रकार उन्होंने इन अवधारणाओं का प्रयोग भारत की राष्ट्रीय नियति और उसकी सांस्कृतिक निरंतरता की कल्पना करने हेतु किया। उनके दर्शन में

सनातन धर्म और भारतीयता का संबंध गहन और अभिन्न है। सामान्यतः सनातन धर्म को केवल हिंदू परंपरा का धार्मिक विधान मान लिया जाता है, किंतु श्री अरविंद के अनुसार यह उससे कहीं अधिक व्यापक और गहन है। उनके मत में सनातन धर्म एक शाश्वत, सार्वभौमिक तथा मौलिक आध्यात्मिक नियम है, जो हिंदू परंपरा की आत्मा में निहित है और उसे जीवंतता प्रदान करता है। यह किसी संप्रदाय या धार्मिक सीमा तक बँधा हुआ नहीं है, बल्कि ऐसा जीवंत तत्व है जो भारतीय संस्कृति को उसकी आत्मचेतना और विश्व-दृष्टि से जोड़ता है।[1]

उनके लिए भारतीयता, सनातन धर्म से उत्पन्न एक विशिष्ट सांस्कृतिक और आध्यात्मिक स्वभाव है। श्री अरविंद की यह भारतीयता सामान्य राजनैतिक राष्ट्रीयता की परिभाषा से भिन्न है। उनका विश्वास था कि राष्ट्र की भी एक आत्मा होती है, जैसे किसी व्यक्ति की आत्मा होती है, और वह आत्मा किसी दैवीय उद्देश्य की अभिव्यक्ति करती है।[2] उन्होंने प्रतिपादित किया कि भारत की राष्ट्रीय आत्मा का स्वरूप शाश्वत और आध्यात्मिक सत्य की निरंतर खोज में निहित है, और यही खोज भारतीय संस्कृति को उसकी अद्वितीय एकता तथा अटूट निरंतरता प्रदान करती है।

श्री अरविंद के चिंतन में दर्शन और राजनीति का अद्वितीय समन्वय दृष्टिगोचर होता है। उन्होंने भारत को केवल एक भू-राजनैतिक इकाई के रूप में नहीं, बल्कि एक ऐसे सभ्यतागत राष्ट्र के रूप में परिभाषित किया, जिसका मूलाधार एक शाश्वत आध्यात्मिक उद्देश्य है। उनके राष्ट्रवादी लेखन (1906-1910) में यह उद्घोषणा स्पष्ट मिलती है कि भारत का राष्ट्रवाद सनातन धर्म में निहित है, बल्कि उनके अनुसार भारतीय राष्ट्रवाद ही सनातन धर्म है[3]। पांडिचेरी में प्रवास (1910) के उपरांत रचित कृतियों, जैसे द रेनेसां इन इंडिया और एसेज ऑन द गीता, में भी उन्होंने पुनः यह प्रतिपादित किया कि भारत का ऐतिहासिक एवं वैश्विक दायित्व मानवता की प्रगति हेतु आध्यात्मिक ज्ञान का मूर्त रूप देना और उसका प्रसार करना है। श्री अरविंद की भारतीय राष्ट्र की अवधारणा का मूल आधार सनातन धर्म है, और उनकी दृष्टि में भारतीयता इसी आध्यात्मिक सार के प्रति निष्ठा से परिभाषित होती है।

सनातन धर्म और भारतीयता

श्री अरविंद का सनातन धर्म पर प्रथम सार्वजनिक प्रतिपादन उनके ऐतिहासिक 'उत्तरपाड़ा भाषण' (1909) में मिलता है, जिसे उन्होंने अलीपुर बम प्रकरण में बरी होने के तुरंत बाद दिया था। इस भाषण में उन्होंने कारावास के दौरान साधना और गहन ध्यान से प्राप्त अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों को अभिव्यक्त किया।

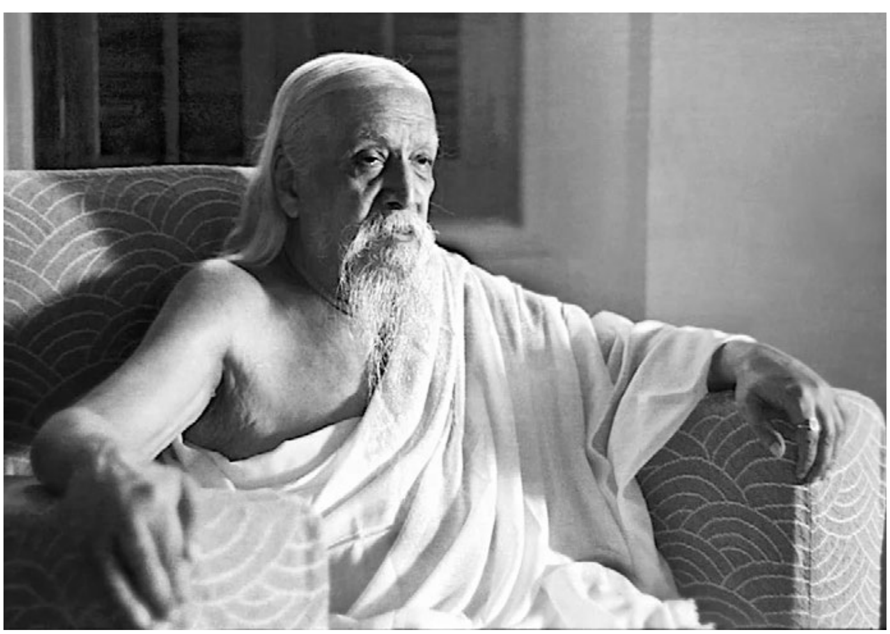

उन्होंने कहा-"हम अक्सर हिंदू धर्म या सनातन धर्म की बात करते हैं, किंतु हममें से बहुत कम लोग ही वास्तव में जानते हैं कि धर्म क्या है। अन्य धर्म मुख्यतः विश्वास और सिद्धांतों पर आधारित हैं, परंतु सनातन धर्म स्वयं जीवन है; यह कोई मान्यता भर नहीं, बल्कि ऐसा सत्य है जिसे जिया जाना चाहिए।"[4]

यह कथन श्री अरविंद की दृष्टि में सनातन धर्म की गहन व्याख्या प्रस्तुत करता है। उनके लिए सनातन धर्म कोई हठधर्मिता या कर्मकांड नहीं, बल्कि एक अनुभवात्मक और जीवंत सत्य था-जीवन और अस्तित्व का शाश्वत नियम, जिसे प्रत्येक क्षेत्र और हर क्षण में अनुभव किया जाना चाहिए।

उन्होंने सनातन धर्म को सार्वभौमिक और शाश्वत धर्म के रूप में वर्णित किया, जो "अन्य सभी को समाहित करता है।" यह धर्म अनंत सत्य को स्वीकार करता है और विविध आध्यात्मिक मार्गों को स्थान देता है। उनके विचार में यह केवल सिद्धांतों का संग्रह नहीं, बल्कि उन आध्यात्मिक अनुभूतियों का निरंतर विकसित होता हुआ भंडार है, जिन्हें भारतीय ऋषियों ने मानवता के उत्थान के लिए खोजा और संजोया है।

श्री अरविंद का मानना था कि जीवन का प्रत्येक क्षेत्र-सामाजिक, राजनैतिक, बौद्धिक, कलात्मक अथवा आध्यात्मिक-सनातन धर्म से निर्देशित हो सकता है। इसी कारण यह केवल विश्वास का विषय नहीं, बल्कि एक सतत जीवंत अनुभूति है।

इसी आधार पर उन्होंने स्पष्ट किया कि भारतीयता को सनातन धर्म से अलग नहीं किया जा सकता। उनके शब्दों में, "यही सनातन धर्म हमारे लिए राष्ट्रवाद है... इसके साथ ही राष्ट्र आगे बढ़ता और विकसित होता है।" उन्होंने चेतावनी भी दी कि यदि यह धर्म नष्ट हुआ तो राष्ट्र का अस्तित्व भी संकट में पड़ जाएगा। अतः, उनके लिए भारत का वास्तविक पुनरुत्थान केवल राजनैतिक नहीं, बल्कि आध्यात्मिक पुनरुत्थान का पर्याय था।

श्री अरविंद ने अपनी इस दृष्टि को कभी भी किसी धर्म-शासित अथवा संकीर्ण हिंदू राज्य के रूप में नहीं देखा। उनके लिए सनातन धर्म स्वभावतः समावेशी था-एक

ऐसा धर्म जो "विज्ञान की खोजों और दर्शन की गहराइयों को भी आत्मसात करता है" तथा ईश्वर तक पहुँचने वाले सभी सच्चे मार्गों को मान्यता देता है। यद्यपि इसका संरक्षण ऐतिहासिक रूप से मुख्यतः हिंदुओं द्वारा हुआ, फिर भी यह "किसी एक देश की सीमाओं तक सीमित नहीं" था, क्योंकि इसका संरक्षण और संवर्द्धन समस्त मानवता के कल्याण के लिए भारत को सौंपा गया दायित्व था। इस संदर्भ में 'हिंदू' शब्द एक सभ्यतागत पहचान का द्योतक है, न कि किसी संप्रदायगत या सैद्धांतिक सीमा का।

श्री अरविंद के अनुसार, सनातन धर्म भारत के लिए मात्र एक सांस्कृतिक धरोहर नहीं, जिसे केवल अपने पास सुरक्षित रखा जाए, बल्कि यह सम्पूर्ण मानवता के लिए एक अनुपम उपहार है। संक्षेप में, सनातन धर्म भारत की सभ्यता के मूल में स्थित एक जीवंत और सार्वभौमिक आध्यात्मिक सत्य है, जबकि भारतीयता सहस्राब्दियों से उस सत्य की सांस्कृतिक अभिव्यक्ति के रूप में विकसित हुई है। इन्हीं परिभाषाओं से भारत के प्रति श्री अरविंद की राजनैतिक और आध्यात्मिक दृष्टि को समझने की आधारभूमि तैयार होती है, जिसकी विस्तार से चर्चा हम इस लेख में करेंगे।

हाल ही में सनातन धर्म को लेकर उत्पन्न राजनैतिक विवाद–जो 2023 में तमिलनाडु के एक नेता द्वारा इसे एक बीमारी से तुलना करने वाली टिप्पणी से आरंभ हुआ–इस शब्द की व्याख्या और समझ में गहरे मतभेदों को सामने लाता है। आलोचकों के अनुसार, यह व्यवस्था जातिगत उत्पीड़न का आवरण है, जबकि समर्थकों के लिए यह भारत की सांस्कृतिक और आध्यात्मिक पहचान की मूल नींव है।

इस संदर्भ में, श्री अरविंद एक संतुलित और गहन दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं। उन्होंने न केवल हिंदू समाज की ऐतिहासिक कमियों को स्वीकार किया, बल्कि ईमानदार सुधार का आह्वान भी किया। उनके लिए सच्चा सनातन धर्म किसी संकीर्ण परंपरा या सामाजिक विकृति का पर्याय नहीं था, बल्कि सत्य, मानवीय गरिमा और आध्यात्मिक शक्ति पर आधारित एक शाश्वत धर्म था। उनकी दृष्टि में इसका वास्तविक सार सामाजिक अन्यायों से परे है–एक ऐसा सार जो सांस्कृतिक गौरव और आत्मचेतना के साथ-साथ सतत सुधार की संभावना भी प्रदान करता है। श्री अरविंद यह भी स्मरण कराते हैं कि यदि सनातन धर्म का उपयोग घृणा, हिंसा या विभाजन को सही ठहराने के लिए किया जाता है, तो यह उसके सच्चे स्वरूप के साथ विश्वासघात है। इसके वास्तविक सार में एकता, साहस और प्रत्येक प्राणी में दिव्यता का दर्शन निहित है। यही दृष्टि इसे न केवल भारत की सांस्कृतिक आत्मा का आधार बनाती है, बल्कि वैश्विक मानवता के लिए भी एक प्रेरक तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठित करती है।

भारत की आत्मा के रूप में सनातन धर्म

बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक में श्री अरविंद के लेखों और भाषणों से यह स्पष्ट होता है कि उन्होंने राष्ट्रवादी चिंतन को गहराई से सनातन धर्म और भारतीयता के साथ जोड़ा। बंगाल के प्रमुख राष्ट्रवादी समाचार पत्र 'बंदे मातरम्' के संपादक के रूप में उन्होंने अनेक लेखों के माध्यम से भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन को केवल राजनैतिक संघर्ष नहीं, बल्कि धर्म और आध्यात्मिकता की दृष्टि से प्रस्तुत किया[5]।

इसका एक महत्त्वपूर्ण उदाहरण मार्च 1908 में भारत धर्म महामंडल–एक रूढ़िवादी हिंदू संगठन–की उनकी तीखी आलोचना है। जब इस संगठन ने ब्रिटिश वायसराय को "हिंदू आस्था का रक्षक" घोषित करने का प्रयास किया, तो श्री अरविंद ने इसे हिंदुत्व की आत्मा के विरुद्ध बताते हुए कड़ी आपत्ति दर्ज की। उन्होंने स्मरण कराया कि हिंदुत्व की वास्तविक नींव किसी राजनैतिक सत्ता की अधीनता में नहीं, बल्कि सत्य और पौरुष में है, जैसा कि संस्कृत वचन में निहित है: "एष धर्मः सनातनः।"

श्री अरविंद के अनुसार, हिंदुत्व न तो कोई संप्रदाय है, न हठधर्मी पंथ, न ही केवल सूत्रों का संग्रह अथवा सामाजिक नियमों का समूह। यह एक जीवंत, शक्तिशाली, शाश्वत और सार्वभौमिक सत्य है, जिसकी आत्मा बाहरी अनुकरण में नहीं, बल्कि उस आंतरिक साधना में है जो मनुष्य की आत्मा को ईश्वर के अनंत अस्तित्व से एकाकार होने की दिव्य परिपूर्णता के लिए तैयार करती है।[6] "ऐसे कथन यह दर्शाते हैं कि श्री अरविंद अपने समय के हिंदुत्व को उसके आदर्श स्वरूप में पुनः परिभाषित कर, उसे राष्ट्रीय पुनरुत्थान की प्रेरक शक्ति के रूप में जाग्रत करना चाहते थे[7]।

उन्होंने अपने लेखों में सनातन धर्म के नैतिक आदर्शों को स्वतंत्रता आंदोलन के साथ जोड़ा और स्पष्ट किया कि "सत्यान् नास्ति परो धर्मः" –सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं।[8] इसी सिद्धांत के आधार पर उन्होंने भारत धर्म महामंडल की आलोचना की, जिसने ब्रिटिश सत्ता के प्रति चापलूसीपूर्ण रवैया अपनाया था।

यह घटना दर्शाती है कि श्री अरविंद के लिए सनातन धर्म केवल एक धार्मिक अवधारणा नहीं, बल्कि एक नैतिक-राजनैतिक मानदंड था। उनकी दृष्टि में देशभक्ति और आध्यात्मिक अनुशासन अविभाज्य थे। भारत की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष करना उनके लिए सनातन धर्म का पालन था–क्योंकि यह सत्य, न्याय और मानवीय गरिमा की रक्षा का कार्य था।

अपने समाचार पत्र 'बंदे मातरम्' में उन्होंने युवाओं का आह्वान किया कि वे विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार और राजनैतिक संघर्ष को एक प्रकार का योग समझें। यह मातृभूमि की सेवा और बलिदान था, जिसे वे दिव्य माता के प्रति भक्ति का रूप मानते थे। यही कारण था कि पत्र का शीर्षक 'वन्दे मातरम्' राष्ट्रवाद और आध्यात्मिक भक्ति के इस गहन संगम को प्रतिध्वनित करता था।

अपने प्रसिद्ध निबंध 'द डॉक्ट्रिन ऑफ पैसिव रेजिस्टेंस' में श्री अरविंद ने स्पष्ट लिखा कि "हमारे सभी राजनैतिक आंदोलनों का, और इसलिए निष्क्रिय प्रतिरोध का, उद्देश्य लोगों का आध्यात्मिक और नैतिक पुनरुत्थान है।[9] "उन्होंने बल दिया कि विदेशी शासन का विरोध घृणा के आधार पर नहीं, बल्कि अपने सत्य और संस्कृति के प्रति धर्मपालन के रूप में होना चाहिए। प्रतिरोध को धर्म से जोड़ने की इस अवधारणा ने राष्ट्रीय आंदोलन को केवल राजनैतिक नहीं, बल्कि उच्च नैतिक और आध्यात्मिक धरातल प्रदान किया।

उनके अनुसार, राजनीति का अंतिम ध्येय भारत की आत्मा को जागृत करना था। 1907-1908 तक वे यह उद्घोषणा कर चुके थे कि भारतीयों के लिए राष्ट्रवाद स्वयं एक धर्म है। 1908 के आरंभ में दिए गए एक भाषण में उन्होंने कहा- "राष्ट्रवाद मर नहीं सकता, क्योंकि यह सनातन धर्म है।" यह उद्घोष बाद के 'उत्तरापारा भाषण' की पूर्वपीठिका था, जो स्पष्ट करता है कि कारावास से पूर्व ही वे राष्ट्रवाद को भारत के शाश्वत धर्म की राजनैतिक अभिव्यक्ति मानते थे। श्री अरविंद के लिए भारतीय राष्ट्र केवल एक भौगोलिक इकाई नहीं, बल्कि दिव्य शक्ति (शक्ति) का मूर्त रूप था-एक ऐसी आध्यात्मिक सत्ता, जो स्वतंत्रता, एकता और पुनरुत्थान के संघर्ष में अपनी अंतर्निहित दिव्यता को प्रकट कर रही थी।

उत्तरापारा भाषणः भारत के मिशन का रहस्योद्धघाटन

श्री अरविंद का 'उत्तरापारा उद्घोषणा' (1909) उनके सनातन धर्म और राष्ट्रवाद संबंधी दृष्टिकोण को समझने का एक प्रामाणिक आधार है। अलीपुर जेल से रिहा होने के बाद उत्तरापारा में हुए सार्वजनिक अभिनंदन समारोह में दिए गए इस भाषण में उन्होंने अपने कारावास के आध्यात्मिक अनुभवों को भारत के भविष्य से जोड़ा।

इस भाषण में उन्होंने स्पष्ट कहा कि जेलवास के दौरान उन्हें गहन साधना और अध्ययन का अवसर मिला, जहाँ गीता और उपनिषदों के चिंतन ने उन्हें यह प्रत्यक्ष अनुभूति दी कि समस्त सृष्टि में वासुदेव विद्यमान हैं। यहीं उन्होंने एक दैवीय आदेश भी अनुभव किया-कि भारत का स्वतंत्रता संघर्ष केवल एक राजनैतिक लक्ष्य नहीं, बल्कि ईश्वर की योजना का हिस्सा है, जिसका ध्येय सनातन धर्म के प्रसार द्वारा संपूर्ण मानवता का उत्थान करना है[10]।

सभा को संबोधित करते हुए उन्होंने उद्धघोषणा की: "उन्होंने (ईश्वर ने) मुझसे कहा-मैं इस राष्ट्र को अपना वचन भेजने के लिए उठा रहा हूँ। यही सनातन धर्म है, यही वह शाश्वत धर्म है जिसे तुम पहले नहीं जानते थे, पर अब मैंने तुम पर प्रकट किया है... इसलिए जब कहा जाता है कि भारत उठेगा, तो वह सनातन धर्म ही होगा जो महान बनेगा।[11] "यह घोषणा उनके आत्मानुभव और राष्ट्रवादी दृष्टिकोण की दैवीयता को उजागर करती है, जिसमें भारत का उत्थान सीधे-सीधे सनातन धर्म के उत्थान से जुड़ा था।

श्री अरविंद ने यह भी प्रतिपादित किया कि भारत का अस्तित्व सदैव मानवता के लिए रहा है, न कि केवल स्वयं के लिए। उसकी स्वतंत्रता केवल आत्म-अभिव्यक्ति नहीं होगी, बल्कि विश्वकल्याण के लिए होगी।[12] उनके शब्दों में: "भारत का अस्तित्व सदैव मानवता के लिए रहा है, न स्वयं के लिए; और उसे महान भी मानवता के लिए ही बनना है।[13] "यह दृष्टि भारत को एक योगिनी के रूप में चित्रित करती है-ऐसा राष्ट्र जो साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं से रहित होकर अपने को मानवता के आध्यात्मिक कल्याण हेतु समर्पित करता है।

श्री अरविंद ने घोषणा की कि भारत ईश्वर के कार्य को पूरा करने के लिए स्वतंत्र और महान बनेगा। यह कार्य है शाश्वत धर्म का प्रसार करना। उन्होंने लोगों से हिंदू धर्म को उसके सबसे गहरे और सच्चे अर्थ में समझने का आग्रह किया।

उन्होंने स्पष्ट किया: "यह एकमात्र ऐसा धर्म है जो विज्ञान के आविष्कारों और दर्शन की गहराइयों को समाहित करके भौतिकवाद पर विजय प्राप्त कर सकता है।[14]" इस प्रकार, उन्होंने सनातन धर्म को पश्चिमी भौतिकवाद और संप्रदायिक हठधर्मिता दोनों का उत्तर बताया। उन्होंने इसे एक ऐसे ध र्म के रूप में प्रस्तुत किया जो उतना ही सार्वभौमिक है जितना विज्ञान और उतना ही व्यक्तिगत व अनुभवात्मक है जितना रहस्यवाद।

अपने भाषण के अंत में श्री अरविंद ने उद्घोषणा की: "यह सनातन धर्म ही है जो हमारे लिए राष्ट्रवाद है।" यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने सामान्य सूत्र "धर्म हमारा राष्ट्रवाद है" को उलटते हुए "राष्ट्रवाद हमारा धर्म है" कहा, और अंततः इसे परिष्कृत कर "हमारा राष्ट्रवाद सनातन धर्म है" के रूप में प्रतिपादित किया।[15]

उनकी दृष्टि में एक सच्चा हिंदू होना और एक सच्चा देशभक्त होना भिन्न नहीं थे। भारत में ईश्वर की सेवा करना ही सनातन धर्म की अभिव्यक्ति थी। इस प्रकार, देशभक्ति उनके लिए एक पवित्र कर्तव्य बन गई। उन्होंने चेतावनी दी कि यदि भारतीय अपने सनातन धर्म से विमुख हो गए तो राष्ट्र अपनी जीवन-शक्ति खो देगा।[16] इसके विपरीत, स्वतंत्रता और उन्नति की दिशा में उठाया गया प्रत्येक कदम, धर्म की सेवा में उठाया गया कदम होगा।

कर्मयोगी का आदर्श और आध्यात्मिक राष्ट्रवाद

'उत्तरपाड़ा भाषण' के पश्चात् श्री अरविंद ने जून 1909 में 'कर्मयोगिन' नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया, जो 1910 तक उनके राष्ट्रवादी और आध्यात्मिक विचारों का प्रमुख माध्यम बनी। इस पत्रिका का केंद्रीय उद्देश्य भगवद्गीता के कर्मयोग के सिद्धांत को राष्ट्रवादी सक्रियतावाद से जोड़ना था, ताकि स्वतंत्रता आंदोलन को नैतिक और आध्यात्मिक आधार प्रदान किया जा सके।

कर्मयोगिन के प्रथम अंक में प्रकाशित उनके संपादकीय "द आइडियल ऑफ द कर्मयोगिन" में उन्होंने स्पष्ट लिखा कि

अपने भाषण के अंत में श्री अरविंद ने उद्घोषणा की: "यह सनातन धर्म ही है जो हमारे लिए राष्ट्रवाद है।" यह कथन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उन्होंने सामान्य सूत्र "धर्म हमारा राष्ट्रवाद है" को उलटते हुए "राष्ट्रवाद हमारा धर्म है" कहा, और अंततः इसे परिष्कृत कर "हमारा राष्ट्रवाद सनातन धर्म है" के रूप में प्रतिपादित किया। उनकी दृष्टि में एक सच्चा हिंदू होना और एक सच्चा देशभक्त होना भिन्न नहीं थे। भारत में ईश्वर की सेवा करना ही सनातन धर्म की अभिव्यक्ति थी

भारतीयों के सामने जो कार्य है वह "यांत्रिक नहीं, बल्कि नैतिक और आध्यात्मिक" है। उन्होंने कहा कि लक्ष्य केवल "सरकार के स्वरूप को बदलना नहीं, बल्कि एक राष्ट्र का निर्माण करना" है।[17]

उनके अनुसार राजनीति इस व्यापक कार्य का केवल एक अंश है, जबकि सांस्कृतिक और आध्यात्मिक जागरण भी उतना ही आवश्यक है। इसी संदर्भ में उन्होंने घोषणा की: "हमारा राष्ट्रवाद हमारी संस्कृति, हमारी सभ्यता और हमारे धर्म के पुनरुत्थान पर आधारित है।" वे आगे लिखते हैं: "हम केवल राजनीति पर ध्यान नहीं देंगे, बल्कि उन सभी तत्त्वों को एक ही इकाई में समाहित करेंगे जिन्हें हम सबसे महत्वपूर्ण मानते हैं-धर्म, हमारा राष्ट्रीय धर्म, जो सार्वभौमिक भी है। यह जीवन का एक शक्तिशाली नियम है, मानव विकास का एक महान सिद्धांत है और आध्यात्मिक ज्ञान एवं अनुभव का वह भंडार है जिसका संरक्षक, आदर्श और प्रचारक बनने की नियति भारत को सदा से मिली है।"

उन्होंने आगे कहा, "भारत का धर्म कुछ भी नहीं है यदि उसे जिया न जाए। इसे केवल जीवन पर ही नहीं, बल्कि संपूर्ण जीवन पर लागू करना होगा। इसकी भावना हमारे समाज, राजनीति, साहित्य, विज्ञान और व्यक्तिगत चरित्र में प्रवेश करके उन्हें ढालनी होगी।"[18]

इस महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन में उन्होंने दु:ख व्यक्त किया कि सदियों के राजनैतिक और सांस्कृतिक दासत्व ने भारत को उसके धर्म की जीवंतता से दूर कर दिया था। लोग उसके बाहरी रूपों से चिपके रहे, किंतु उसकी आत्मा को भुला बैठे। इस संकट का समाधान उन्होंने इस रूप में सुझाया कि आध्यात्मिकता को आधुनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से जोड़ा जाए। चाहे वह सामाजिक सुधार हो, राजनैतिक संगठन, कलात्मक अभिव्यक्ति अथवा वैज्ञानिक अनुसंधान-हर आयाम में सनातन धर्म की आत्मा का संचार होना चाहिए।[19]

'कर्मयोगिन' पत्रिका के माध्यम से श्री अरविंद ने निरंतर यह प्रतिपादित किया कि व्यवहारिक अर्थों में राष्ट्रवाद ही सनातन धर्म है। एक लेख में उन्होंने उन आलोचकों को उत्तर दिया, जिन्होंने राष्ट्रवादियों को केवल भावनाओं में बहकर कार्य न करने की सलाह दी थी। इस पर उन्होंने लिखा: "हमारा दृष्टिकोण यह है कि राष्ट्रवाद हमारा विश्वास है, हमारा धर्म है, और इसकी प्राप्ति ही वह कर्तव्य है जो वर्तमान में देश के सामने है। यदि ऐसा है, तो यह एक ऐसा कार्य है जिसे करना ही होगा और जिससे हम केवल इसलिए पीछे नहीं हट सकते क्योंकि परिस्थितियाँ हमारे विरुद्ध हैं।"[20]

राजनैतिक संघर्ष को धार्मिक कर्तव्य के रूप में परिभाषित कर श्री अरविंद ने स्वतंत्रता आंदोलन में वही उत्कट निष्ठा और समर्पण संचारित किया, जो परंपरागत रूप से धार्मिक साधना या यज्ञ के लिए सुरक्षित माना जाता था। वे बार-बार ब्रिटिश शासन के विरुद्ध संघर्ष की तुलना कुरुक्षेत्र से करते थे, जहाँ भारतीयों का दायित्व था कि वे परिणामों से निर्लिप्त रहकर अन्याय और उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्ष करें। यह दृष्टिकोण सीधे-सीधे भगवद्गीता के निष्काम कर्म के सिद्धांत से जुड़ता था, जहाँ कृष्ण अर्जुन से केवल धर्मानुसार कर्म करने का उपदेश देते हैं।[21] गीता पर आधारित यह व्याख्या उनके समकालीन बाल गंगाधर तिलक जैसे नेताओं के विचारों से भी मेल खाती थी (जिन्होंने 1915 में 'गीता रहस्य' में कर्म योग को गीता का केंद्रीय संदेश बताया)।

भारत की आध्यात्मिक नियति: विश्वगुरु

श्री अरविंद के चिंतन का एक केंद्रीय स्तंभ यह विश्वास है कि भारत की ऐतिहासिक और आध्यात्मिक नियति 'जगत गुरु' बनना है। यह विचार उनके समय में पूर्णत: नवीन नहीं था-स्वामी विवेकानंद जैसे महापुरुष भी भारत के आध्यात्मिक नेतृत्व की घोषणा कर चुके थे-परंतु श्री अरविंद ने इसे अपने गहन आध्यात्मिक विकास-दर्शन से जोड़कर कहीं अधिक सुसंगत, संगठित और दार्शनिक रूप दिया।

उनके अनुसार, भारत वह भूमि है जहाँ योग, ध्यान और ईश्वर-साक्षात्कार जैसे आध्यात्मिक अन्वेषण के गहनतम रहस्यों का विकास और संरक्षण हुआ है। भारतीय संस्कृति ने सदैव बाह्य भौतिक वैभव की अपेक्षा आंतरिक चेतना के उत्कर्ष को प्राथमिकता दी है। श्री अरविंद का मानना था कि जब विश्व की भौतिकवादी विचारधाराएँ अपने संकट और असफलताओं से थककर उच्चतर चेतना की खोज की ओर उन्मुख होंगी, तब वे अनिवार्यत: मार्गदर्शन के लिए भारत की ओर देखेंगे। इस प्रकार, भारत की भूमिका केवल अपने लिए नहीं, बल्कि संपूर्ण मानवता के लिए नियत है।[22]

15 अगस्त 1947 के अपने स्वतंत्रता दिवस संदेश में-जिसे प्रसिद्ध रूप से "पंच स्वप्न भाषण" कहा जाता है-श्री अरविंद ने अपने पाँच स्वप्नों में से एक को भारत की आध्यात्मिकता की विश्व को देन के रूप में व्यक्त किया। उन्होंने स्पष्ट भविष्यवाणी की थी कि युद्धों, संकटों और भौतिकवाद की सीमाओं से पीड़ित मानवता अंतत: ऐसे गहरे उत्तरों की तलाश करेगी जो केवल अध्यात्म से ही संभव हैं, और इसलिए आध्यात्मिकता की ओर उसकी रुचि "अपरिहार्य रूप से बढ़ेगी।"

श्री अरविंद का यह दृढ़ विश्वास था कि भारत की आध्यात्मिक शक्ति केवल व्यक्तिगत साधना तक सीमित नहीं है, बल्कि वह समस्त मानवता के सामूहिक विकास को दिशा देने की क्षमता रखती है।[23] उनके अनुसार, मानव विकास की आगामी अवस्था एक उच्चतर चेतना की ओर होगी, और इस यात्रा का नेतृत्व यदि कहीं से संभव है तो वह भारत ही है। यद्यपि यह विकास सार्वभौमिक होगा, पर उसका केंद्र और प्रेरक तत्व भारत का आध्यात्मिक आंदोलन होगा।[24]

उनका तर्क स्पष्ट था: भारतीय सभ्यता ने युगों-युगों से भौतिक उपलब्धियों की अपेक्षा आत्म-साक्षात्कार को महत्व दिया है। इसी कारण यहाँ एक विशाल आध्यात्मिक ज्ञान-संपदा संचित हुई है, जो वैश्विक स्तर पर मानवता की गहनतम प्यास बुझाने में सक्षम है। इसके विपरीत, श्री अरविंद पश्चिम की शक्ति को भौतिक संगठन और विज्ञान में देखते थे। वे पश्चिम की उपलब्धियों के आलोचक नहीं थे; बल्कि उन्होंने विज्ञान और तर्कशीलता का स्वागत किया, परंतु यह भी चेताया कि केवल भौतिकवाद पर आधारित जीवन अंतत: शून्यता, असंतोष और संघर्ष को जन्म देता है।

श्री अरविंद की दृष्टि में, सच्चा समाधान

पूर्व और पश्चिम के सहयोग में है। जब भारतीय अध्यात्म और पश्चिमी विज्ञान का समन्वय होगा, तभी एक संतुलित और पूर्ण विश्व व्यवस्था का निर्माण संभव होगा। भारत का 'जगत गुरु' होना किसी राजनैतिक प्रभुत्व या साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षा का प्रतीक नहीं है, बल्कि सेवा, मार्गदर्शन और आत्मिक सहयोग का प्रतीक है। इसीलिए उनका आदर्श वाक्य था: "भारत मानवता के लिए।"[25]

अरविंद के अनुसार, 'जगत गुरु' की भूमिका सांस्कृतिक श्रेष्ठता का दावा नहीं, बल्कि एक गहन उत्तरदायित्व थी-ऐसा उत्तरदायित्व जिसे निभाने के लिए भारत को अपनी आंतरिक कमजोरियों से मुक्ति पाना अनिवार्य था। उनका मत था कि यदि भारत विश्व का विश्वसनीय शिक्षक बनना चाहता है, तो उसे सामाजिक विभाजनों, जातीय संकीर्णताओं और आर्थिक दारिद्र्य को दूर करना होगा। इसीलिए उन्होंने बार-बार यह प्रतिपादित किया कि आत्मिक महानता तभी फलित होगी जब उसके साथ सामाजिक सुधार, सांप्रदायिक एकता और व्यावहारिक प्रगति भी हो।

उनकी दृष्टि में, भारतीयता को निरंतर विकसित होना चाहिए और वह मध्ययुगीन जड़ताओं में कैद नहीं रह सकती। श्री अरविंद के अनुसार, सच्चा सनातन धर्म कभी प्रगति का विरोधी नहीं रहा, बल्कि वह समाज के निरंतर नवीनीकरण की माँग करता है, ताकि वह उच्चतम सत्यों को प्रतिबिंबित कर सके। 1907 में बंगाल नेशनल कॉलेज में छात्रों को संबोधित करते हुए उन्होंने कहा: "माँ भारती की सेवा के लिए अपने शरीर, मन और आत्मा को प्रशिक्षित करो... ताकि वह समृद्ध हो सके, ताकि वह प्रसन्न हो सके।[26]" यह कथन मातृभूमि के लिए आत्म-त्याग और अनुशासन की भावना को एक साधना का रूप देता है, जो राष्ट्रीय उत्थान का आधार है।[27]

श्री अरविंद का तात्पर्य यह था कि भारत तभी जगत गुरु की भूमिका निभा सकेगा जब उसके नागरिक विविधता में एकता का जीवन्त उदाहरण प्रस्तुत करें, अपने आचरण में आध्यात्मिक आदर्शवाद को मूर्त करें और कार्यों में गतिशीलता दिखाएँ। आधुनिक संदर्भ में देखें तो उनके विचार एक प्रकार की 'सकारात्मक धर्मनिरपेक्षता' (positive secularism) का समर्थन करते प्रतीत होते हैं-जहाँ राज्य सभी धर्मों का आदर करे, किन्तु किसी एक धर्म का पक्षधर न बने। यह वही भाव है जो भारतीय संविधान की धर्मनिरपेक्षता में व्यक्त है: धर्म के प्रति तटस्थता, न कि धर्म-विरोध।

अरविंद के अनुसार, 'जगत गुरु' की भूमिका सांस्कृतिक श्रेष्ठता का दावा नहीं, बल्कि एक गहन उत्तरदायित्व थी-ऐसा उत्तरदायित्व जिसे निभाने के लिए भारत को अपनी आंतरिक कमजोरियों से मुक्ति पाना अनिवार्य था। उनका मत था कि यदि भारत विश्व का विश्वसनीय शिक्षक बनना चाहता है, तो उसे सामाजिक विभाजनों, जातीय संकीर्णताओं और आर्थिक दारिद्र्य को दूर करना होगा। इसीलिए उन्होंने बार-बार यह प्रतिपादित किया कि आत्मिक महानता तभी फलित होगी जब उसके साथ सामाजिक सुधार, सांप्रदायिक एकता और व्यावहारिक प्रगति भी हो

उनका विश्वास था कि राज्य और समाज का मार्गदर्शन सामूहिक संस्कृति से उत्पन्न नैतिक-आध्यात्मिक मूल्यों से होना चाहिए। भारतीय संविधान के आदर्श-न्याय, समानता और बंधुत्व-दरअसल भारतीय धार्मिक-दार्शनिक परंपराओं जैसे 'सम-दर्शन' और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की धर्मनिरपेक्ष अभिव्यक्ति हैं। इसी परिप्रेक्ष्य में, श्री अरविंद का यह मत कि सनातन धर्म सार्वभौमिक है, ऐसा ढाँचा प्रदान करता है जिसमें योग, आयुर्वेद, या धर्मचक्र जैसे सांस्कृतिक प्रतीक राष्ट्रीय जीवन का हिस्सा हों, परंतु भारत किसी भी प्रकार से धर्म-शासित राज्य न बने।

वास्तव में, भारत की सार्वजनिक संस्कृति के अनेक पहलू इस सभ्यतागत दृष्टिकोण को प्रकट करते हैं: सभी समुदायों के धार्मिक पर्वों पर राष्ट्रीय अवकाश, या संयुक्त राष्ट्र द्वारा योग को विश्व-स्तरीय मान्यता देना-ये उदाहरण दर्शाते हैं कि भारतीय अध्यात्म और धर्मनिरपेक्ष शासन परस्पर विरोधी नहीं, बल्कि एक-दूसरे के पूरक हैं। इस प्रकार, श्री अरविंद का 'भारत मानवता के लिए' का आदर्श भारत की नियति को एक ऐसे नैतिक नेतृत्व में बदल देता है जो विश्व को दिशा दे सके, किंतु प्रभुत्व का दावा किए बिना।

भारत की आध्यात्मिक एकता की नींव

अंततः, यह मूल्यांकन करना आवश्यक है कि क्या श्री अरविंद का दृष्टिकोण भारत के लिए एक ऐसा एकीकृत आध्यात्मिक आधार प्रदान कर सकता है जो आज के वैचारिक और सांप्रदायिक विभाजनों को पार कर सके। इसका उत्तर एक ओर आशाजनक है, दूसरी ओर चुनौतीपूर्ण भी।

श्री अरविंद एक ऐसा वैचारिक ढाँचा प्रस्तुत करते हैं जिसमें हिंदू, मुस्लिम, ईसाई-सभी पहचानें धर्म की व्यापक और सार्वभौमिक एकता में समाहित हो सकती हैं। यदि सनातन धर्म को शाश्वत सत्य और नैतिकता के रूप में समझा जाए, तो करुणा, ईमानदारी और प्रार्थना का पालन करने वाला कोई भी व्यक्ति-चाहे वह किसी भी धर्म का अनुयायी हो-वास्तव में उसी परम सत्य की ओर अग्रसर है। उनका तर्क है कि प्रत्येक धर्म आत्मा की खोज का एक मार्ग है, और प्रेम, आस्था तथा सेवा के माध्यम से सभी इसे मूर्त रूप देते हैं। इस दृष्टि से, सभी धर्म एक ही सत्य की आंशिक अभिव्यक्तियाँ हैं, जो अंततः एक आध्यात्मिक संश्लेषण की ओर अग्रसर हैं।

यह विचार अंतर-धार्मिक तनावों को कम करने में सहायक हो सकता है। "बहुसंख्यक बनाम अल्पसंख्यक" की संकीर्ण सोच के बजाय, सभी खुद को एक सभ्यतागत यात्रा में साझेदार के रूप में देख सकते हैं, जहाँ प्रत्येक की भूमिका और योगदान समान रूप से महत्वपूर्ण है। यह समावेशी दृष्टिकोण आधुनिक बहुलतावाद और संवाद के सिद्धांतों से प्रतिध्वनित होता है और भारतीय सभ्यतागत

मूल्यों की ओर लौटने का आह्वान करता है।

श्री अरविंद का दृष्टिकोण राष्ट्र-राज्य की पश्चिमी आयातित अवधारणाओं से भिन्न है, जिनके कारण ऐतिहासिक रूप से विभाजन और सांप्रदायिक प्रतिस्पर्धा बढ़ी। उनके अनुसार, भारत की आत्मा पर केंद्रित यह दृष्टि संकीर्ण धार्मिक पहचानों से ऊपर उठकर एक साझा आध्यात्मिक लोकाचार को प्रोत्साहित करती है-जैसे विविधता का सम्मान, पारिवारिक मूल्य और आध्यात्मिक खोज-जो सभी धर्मों के अनुयायियों द्वारा साझा किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, भारत में सूफी इस्लाम और भक्ति हिंदू धर्म का परस्पर मेल हुआ है, और ईसाई तथा सिख शिक्षाएँ कर्मयोग और सेवा-भाव के साथ संगत हैं। इन सभी को एक सामान्य आध्यात्मिक आधार के रूप में महत्त्व दिया जा सकता है। दूसरी ओर, वास्तविकता में इस तरह की एकता स्थापित करना चुनौतीपूर्ण है। कई लोग सनातन धर्म जैसे शब्दों को केवल हिंदू धर्म से जोड़कर देखते हैं, जिससे वे इसे अपने लिए अप्राप्य या संदेहास्पद समझ सकते हैं।

इसके अतिरिक्त, इन उच्च आदर्शों का राजनैतिक दुरुपयोग एक गंभीर समस्या है। सत्ता-लोभी तत्व इन्हें अपने स्वार्थ के लिए साधन बना लेते हैं और इनके गहन आध्यात्मिक आशय को सतही नारों में बदल देते हैं। जबकि श्री अरविंद की दृष्टि का सार सच्ची आध्यात्मिक उन्नति में है, जिसे न तो कानून के माध्यम से लागू किया जा सकता है और न ही प्रचार के बल पर स्थापित किया जा सकता है। इसके लिए दीर्घकालिक रूप से शिक्षा, संवाद और आपसी सद्भावना की प्रक्रिया आवश्यक है।

अल्पकाल में, वैचारिक ध्रुवीकरण इस समझ को भी धुंधला कर देता है कि श्री अरविंद का 'सनातन धर्म' वास्तव में किस ओर संकेत करता था। उदाहरणत:, एक वामपंथी धर्मनिरपेक्ष व्यक्ति इसे 'छिपा हुआ हिंदुत्व' कहकर नकार सकता है, जबकि एक दक्षिणपंथी कट्टरपंथी इसकी वास्तविक भावना के विपरीत रहते हुए भी केवल औपचारिक समर्थन कर सकता है।

फिर भी, यदि श्री अरविंद के दृष्टिकोण को सही भावना के साथ आत्मसात किया जाए, तो यह भारत के लिए एक गहन और एकीकृत आध्यात्मिक आधार निर्मित कर सकता है। यह ऐसा दर्शन है, जो सभी धर्मों का सम्मान करता है, किंतु किसी एक संप्रदाय तक सीमित नहीं है। यह हमें 'धर्म-शासित बनाम धर्मनिरपेक्ष' की परंपरागत द्वंद्वात्मकता से परे ले जाकर एक नए प्रतिमान की ओर इंगित करता है-धार्मिक धर्मनिरपेक्षता। इसका आशय है एक ऐसा राज्य और समाज, जो सत्य, करुणा, न्याय और आत्म-साक्षात्कार जैसे सार्वभौमिक मूल्यों द्वारा संचालित हो। ये मूल्य सभ्यतागत विरासत से उत्पन्न अवश्य हैं, किंतु संप्रदाय-निरपेक्ष और सर्वजन-प्रासंगिक हैं।

श्री अरविंद ने अपने लेखन में इसी दृष्टि को अनिवार्य रूप से प्रतिपादित किया। यद्यपि इसे मूर्त रूप देना अभी एक सतत् और प्रगतिशील कार्य है, उनके विचार आज भी एक प्रकाश-स्तंभ की भाँति मार्गदर्शक बने हुए हैं। वे भारत को यह स्मरण कराते हैं कि उसकी सच्ची एकता बाहरी संरचनाओं में नहीं, बल्कि आत्मा में और उस सनातन धर्म में निहित है, जो उसके लोगों के हृदयों में विविध रूपों में जीवित रहता है।

श्री अरविंद का दृष्टिकोण राष्ट्र-राज्य की पश्चिमी आयातित अवधारणाओं से भिन्न है, जिनके कारण ऐतिहासिक रूप से विभाजन और सांप्रदायिक प्रतिस्पर्धा बढ़ी। उनके अनुसार, भारत की आत्मा पर केंद्रित यह दृष्टि संकीर्ण धार्मिक पहचानों से ऊपर उठकर एक साझा आध्यात्मिक लोकाचार को प्रोत्साहित करती है-जैसे विविधता का सम्मान, पारिवारिक मूल्य और आध्यात्मिक खोज-जो सभी धर्मों के अनुयायियों द्वारा साझा किया जा सकता है। उदाहरण स्वरूप, भारत में सूफी इस्लाम और भक्ति हिंदू धर्म का परस्पर मेल हुआ है, और ईसाई तथा सिख शिक्षाएँ कर्मयोग और सेवा-भाव के साथ संगत हैं। इन सभी को एक सामान्य आध्यात्मिक आधार के रूप में महत्त्व दिया जा सकता है

आध्यात्मिक राष्ट्रवाद और वेदांतिक सार्वभौमिकता

श्री अरविंद ने सनातन धर्म को भारत की धड़कती आत्मा और उसकी शाश्वत जीवन-शक्ति के रूप में देखा। उनके लिए यह केवल आस्था या धार्मिक परंपरा का नाम नहीं था, बल्कि वह आध्यात्मिक आधार था जिस पर भारतीयता टिकी हुई है। उनका दृष्टिकोण अद्वितीय था-उन्होंने आध्यात्मिक राष्ट्रवाद को वेदांतिक सार्वभौमिकता के साथ जोड़ा और इस प्रकार एक ऐसा समन्वित ढाँचा प्रस्तुत किया, जो भारत के पुनरुत्थान का मार्ग बन सकता है।

उनकी साहसिक घोषणा- "सनातन धर्म ही राष्ट्रवाद है"-भारतीय राष्ट्रवाद को एक सामान्य राजनैतिक विचारधारा से ऊपर उठाकर आध्यात्मिक मिशन के रूप में पुनर्परिभाषित करती है। यह दृष्टिकोण भारत की पहचान को केवल राजनैतिक सीमाओं या क्षेत्रीय दावों तक सीमित नहीं करता, बल्कि उसे मानवता के उत्थान हेतु एक सार्वभौमिक संदेशवाहक के रूप में प्रस्तुत करता है। यह कोई साधारण राष्ट्रवाद नहीं था। श्री अरविंद के लिए भारत का आह्वान था कि वह अपने प्राचीन ज्ञान और तप:शक्ति को जगाए और मानवता को एक उच्चतर विकास-आध्यात्मिक, नैतिक और सांस्कृतिक प्रगति-की ओर ले जाए। इस रूपरेखा में वे सब कुछ समेट लेते हैं: नैतिक राजनीति, जो सत्ता को केवल स्वार्थ की नहीं, बल्कि सेवा की साधना बनाए। विविधता के बीच एकता, जो भारत की बहुस्तरीय संस्कृति को संघर्ष नहीं, बल्कि सहयोग का आधार मानती है। भौतिक प्रगति और आध्यात्मिक गहराई का संतुलन, ताकि आधुनिकता और परंपरा टकराएँ नहीं, बल्कि एक-दूसरे को समृद्ध करें।

इस प्रकार, अध्यात्म को राष्ट्रवाद से जोड़कर श्री अरविंद संकीर्ण, उग्र या बहिष्कारी राष्ट्रवाद के विरुद्ध एक सुरक्षात्मक कवच प्रदान करते हैं। उनका राष्ट्रवाद किसी को

बाहर करने वाला नहीं, बल्कि सबको साथ लेकर चलने वाला है। साथ ही, उन्होंने यह सुनिश्चित करने का प्रयास किया कि ये ऊँचे आदर्श केवल अमूर्त चिंतन न बनें, बल्कि व्यावहारिक राष्ट्र-निर्माण में भी अपनी जगह पाएं। उनका यह संश्लेषण-जो न तो आधुनिकता को खारिज करता है और न ही परंपरा को छोड़ता है-आज भी उतना ही प्रासंगिक है। यह भारत को एक खंडित, विभाजित और अस्थिर दुनिया में फलने-फूलने और मानवता को नए आध्यात्मिक क्षितिजों की ओर ले जाने का मार्ग प्रदान करता है।

श्री अरविंद के लिए भारत का पुनरुत्थान मात्र आर्थिक समृद्धि या सैन्य सामर्थ्य का विषय नहीं है, बल्कि यह आत्मा का पुनर्जागरण है-एक ऐसा पुनरुत्थान जो शाश्वत सिद्धांतों को वर्तमान युग की चुनौतियों के अनुरूप नए रूप में प्रकट करता है। उनका मानना था कि भारत को अपने सभ्यतागत लोकाचार की जड़ों में दृढ़ रहते हुए निरंतर नवाचार करना चाहिए। यही सूक्ष्म संतुलन 21वीं सदी में भारत की ऐतिहासिक भूमिका और अवसर को परिभाषित करता है।[28]

'जगत गुरु' या 'विश्व-शिक्षक' के रूप में भारत का ध्येय प्रतिद्वंद्विता नहीं, बल्कि सेवा है। वह वैश्विक संकटों का समाधान आध्यात्मिक मूल्यों को साझा करके प्रस्तुत कर सकता है। आज योग और ध्यान का विश्वव्यापी प्रसार श्री अरविंद की उसी दूरदृष्टि की पुष्टि करता है, जिसमें उन्होंने भारत की उस क्षमता को देखा था जो मानवता को एक स्थायी और आध्यात्मिक जीवन के पथ पर ले जा सकती है।

आंतरिक स्तर पर भी उनका दृष्टिकोण विभाजन का नहीं, बल्कि समन्वय और एकता का था। उनके लिए सनातन धर्म कोई संकीर्ण धार्मिक पहचान नहीं, बल्कि एक सार्वभौमिक सत्य है-एक ऐसा सत्य जो सभी संप्रदायों और सीमाओं से परे जाकर भारतीयों को साझा आध्यात्मिक विरासत में जोड़ता है। यह वेदांतिक दृष्टिकोण 'अनेकता में एकता' का जीवन्त रूप है, जो सांप्रदायिक कलह को मिटाकर विविध मतों और परंपराओं को उसी एक आत्मा की विविध अभिव्यक्तियाँ मानता है। भारत उनके लिए एक ऐसे बगीचे के समान था जहाँ हर फूल अपनी विशिष्टता में खिले, किंतु सभी एक ही मिट्टी में जड़ें जमाए हों और एक ही प्रकाश से जीवन प्राप्त करें।

श्री अरविंद का समग्र आदर्श आज भी उतना ही प्रासंगिक है। उनका चिंतन भौतिक विकास को आध्यात्मिक उत्थान से, व्यक्तिगत स्वतंत्रता को सामूहिक हित से, और राष्ट्रीय गौरव को वैश्विक उत्तरदायित्व से जोड़ता है। यह कोई साधारण लक्ष्य नहीं, बल्कि एक उच्चतर चुनौती है-ऐसी चुनौती जो प्रबुद्ध हृदय और विवेकशील मस्तिष्क की अपेक्षा करती है। फिर भी, भारत के भविष्य-पथ के लिए यह दृष्टि 'ध्रुवतारे' की भाँति मार्गदर्शक है।

उनका विचारोत्तेजक प्रश्न-"एक राष्ट्र क्या है?... यह करोड़ों की शक्ति है" -आज भी गूंजता है। क्या यह शक्ति केवल महत्वाकांक्षा और स्वार्थ की द्योतक होगी, या इसमें करुणा और ज्ञान का समावेश भी होगा? श्री अरविंद हमें दूसरा मार्ग चुनने का साहस देते हैं-ऐसा मार्ग जो भारत को आधुनिक भी बनाए और कालातीत भी।

आज जब पूरी दुनिया दिशा की खोज में भटक रही है, श्री अरविंद का आह्वान पहले से कहीं अधिक प्रासंगिक प्रतीत होता है। वे हमें स्मरण कराते हैं कि भारत तभी अपने सच्चे स्वरूप को प्राप्त कर सकता है जब वह अपनी अंतःस्थ आध्यात्मिक चेतना को जागृत करे और मानवता को उसकी अगली महान छलांग की ओर मार्गदर्शन दे।

संदर्भ-

1. श्री अरविंद. (1909, जून). उत्तरपाड़ा भाषण, कर्मयोगिन.
2. मेहरा, बी. (2025, अप्रैल). सनातन धर्म ऐंड इंडियन नेशनलिज्म (भाग 1), रेनेसां. जून 18, 2025 को https://renaissance.aurosociety.org/sanatana-dharma-and-indian-nationalism-part-1/ से प्राप्त
3. श्री अरविंद. (1909, जून). उत्तरपाड़ा भाषण, कर्मयोगिन.
4. उपरोक्त
5. सरकार, एस., भट्टाचार्य, एन., चक्रबर्ती, डी. (1973). द स्वदेशी मूवमेंट इन बंगाल, 1903-1908 (पृ. 307-8). नई दिल्ली: पीपल्स पब्लिशिंग हाउस
6. श्री अरविंद (1908). "नो सेक्ट ऑर क्रीड, बट अ यूनिवर्सल ट्रुथ" बंदेमातरम (16 मार्च 1908) बंदे मातरम: अर्ली पोलिटिकल राइटिंग्स (सीडब्ल्यूएसए, वॉल्यूम 6-7) बाई अरविंद में पुन: प्रकाशित
7. बंदेमातरम (सीडब्ल्यूएसए) बाई श्री अरविंद ऑनलाइन पढ़ें https://motherandsriaurobindo.in/Sri-Aurobindo/books/bande-mataram/
8. उपरोक्त
9. द इनकार्नेट वर्ड https://incarnateword.in/cwsa/6/the-doctrine-of-passive-resistance-conclusions
10. श्री अरविंद (1909). स्पीच ऐट उत्तरपाड़ा (उत्तरपाड़ा स्पीच). कर्मयोगिन, जून 1909. (पहले कर्मयोगिन और बाद में स्पीचेज में छपा)
11. उपरोक्त
12. उपरोक्त
13. उपरोक्त
14. उपरोक्त
15. उपरोक्त
16. उपरोक्त
17. श्री अरविंद (1909). "द आइडियल ऑफ द कर्मयोगिन" कर्मयोगिन, 19 जून 1909 (श्री अरविंद आश्रम आर्काइव्ज) https://www.sriaurobindoashram.org/sriaurobindo/downloadpdf.php?id=24
18. उपरोक्त
19. उपरोक्त
20. उपरोक्त
21. उपरोक्त
22. https://aurosociety.org/society/index/1947%2C-August-15th-Message
23. उपरोक्त
24. उपरोक्त
25. श्री अरविंद. (1909, जून). उत्तरपाड़ा भाषण, कर्मयोगिन.
26. https://aurosociety.org/society/index/1947%2C-August-15th-Message
27. हिंदूज ऐंड मुस्लिम्स ऑफ इंडिया मस्ट यूनाइट - श्री अरविंद - द स्पिरिचुअल बी https://www.spiritualbee.com/posts/hindu-muslim-unity-sri-aurobindo/
28. उपरोक्त

डॉ. उपासना तिवारी

भारतीयता में स्त्रीत्व एक विमर्श

स्त्रीत्व यानी नारीत्व के सार का भारतीय सभ्यता के लोकाचार-भारतीयता में एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहाँ पश्चिमी नारीवादी ढाँचे अक्सर व्यक्तिवाद और परंपरा के टूटने पर जोर देते हैं, वहीं स्त्रीत्व एक समग्र, आध्यात्मिक विश्वदृष्टि में गहराई से निहित है। यहाँ स्त्री ब्रह्मांडीय, सामाजिक और नैतिक व्यवस्था का अभिन्न अंग है। नारीत्व न केवल एक जैविक श्रेणी है, बल्कि बल (शक्ति), सृजन (जननी), ज्ञान (विद्या) और निरंतरता (संस्कृति) का एक बहुआयामी प्रतीक भी है। भारतीय चिंतन स्त्री को अधीनस्थ के रूप में नहीं बल्कि सृजन, ज्ञान और पोषण की गतिशील शक्ति के रूप में सम्मान देता है। गार्गी और लोपामुद्रा जैसी वैदिक द्रष्टाओं से लेकर सरस्वती और दुर्गा जैसी आदिरूप तक, भारतीय परंपरा स्त्री शक्ति, बुद्धि और आध्यात्मिक स्वायत्तता का उत्सव मनाती है।

अर्धनारीश्वर की अवधारणा पुरुष और स्त्री ऊर्जा की एकता का प्रतीक है, जो संघर्ष नहीं बल्कि संतुलन को दर्शाती है। हालांकि, स्त्रीत्व को आक्रमणों, उपनिवेशवाद और पितृसत्ता के कारण ऐतिहासिक व्यवधानों का सामना करना पड़ा है। फिर भी भारतीय महिलाओं ने भक्ति प्रतिरोध और घरेलू लचीलेपन के माध्यम से पोषणकर्ता, विचारक और नेता के रूप में लगातार अपना स्थान पुनः प्राप्त किया है।

भारतीयता स्त्रीत्व को उत्पीड़न और मुक्ति के द्वंद्व के माध्यम से नहीं, बल्कि कर्तव्य, करुणा और आध्यात्मिक उद्देश्य में निहित एक संबंधपरक पहचान के माध्यम से गले लगाती है। आधुनिक समय में चुनौती यह है कि लैंगिक न्याय को सभ्यतागत निरंतरता के साथ एकीकृत किया जाए। इस प्रकार, भारतीयता में स्त्रीत्व कालातीत आदर्शों का उत्सव और उनके समकालीन अहसास का आह्वान दोनों है - जहाँ नारीत्व पर विवाद नहीं किया जाता है, बल्कि सांस्कृतिक, नैतिक और आध्यात्मिक जुड़ाव के साथ सामंजस्य स्थापित किया जाता है।

नारीत्व केवल एक बायोलॉजिकल कैटेगरी है नहीं है। बल्कि यह शक्ति (शक्ति), सृजन (जननी), ज्ञान (विद्या) और निरंतरता (संस्कृति) का एक बहुआयामी प्रतीक है। इस आर्टिकल के द्वारा हम भारतीय संदर्भ में स्त्रीत्व का विश्लेषण न केवल शास्त्रीय, ऐतिहासिक और साहित्यिक दृष्टि से कर रहे हैं, बल्कि समकालीन सामाजिक-राजनैतिक वास्तविकताओं के माध्यम से भी कर रहे हैं। यह महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के उत्तर देने का प्रयास करती है: भारतीय सभ्यता की निरंतरता में एक महिला होने का क्या अर्थ है? भारतीयता स्त्री के प्रति अपनी प्राचीन श्रद्धा और लैंगिक न्याय की आधुनिक माँग दोनों को कैसे अपना सकती है? इस प्रकार, "भारतीयता में स्त्रीत्व: एक विमर्श" केवल भारत में नारीत्व की खोज नहीं है। यह भारतीय पहचान को स्त्रीत्व के नजरिए से फिर से परिभाषित करने का एक निमंत्रण है, जो कालातीत और समयबद्ध दोनों है।

> भारतीय चिंतन में स्त्री को अधीनस्थ नहीं, बल्कि सृजन और पोषण की गतिशील शक्ति के रूप में सम्मान दिया गया है। एक दृष्टि

शक्ति: भारतीय आध्यात्मिक परंपराओं में दैवीय स्त्रीत्व

भारतीय आध्यात्मिक और सांस्कृतिक संकल्पना का केंद्र इसके आरंभिक प्रकटन से ही स्त्रीत्व, यानी स्त्री संबंधी सिद्धांत रहा है। इस सिद्धांत के मूल में शक्ति की अवधारणा है। यह शक्ति ही है जो दैवी स्त्री ऊर्जा को सृजन के लिए प्रेरित करती है, जीवन को बनाए रखती है और परिवर्तन

को नियंत्रित करती है। रैखिक ऐतिहासिक आख्यानों में जहाँ अक्सर महिलाओं को हाशिए पर रखा जाता है, उसके विपरीत भारतीय सभ्यता का दृष्टिकोण- भारतीयता - स्त्रीत्व का एक बहुआयामी दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है, जो ब्रह्मांडीय व्यवस्था और सामाजिक संरचनाओं दोनों में गहराई से अंतर्निहित है।

देवी पूजा के संकेत सिंधु घाटी सभ्यता (3300-1300 ईसा पूर्व) में भी मिलते हैं। मूर्तियों और प्रजनन प्रतीकों से पता चलता है कि स्त्री रूप को जीवनदायी और पवित्र माना जाता था। यह प्रारंभिक उपासना सूक्ष्म बदलावों के साथ वैदिक काल में परिवर्तित हो गई। ऋग्वेदिक काल में पुरुष देवताओं को प्रमुखता मिली, लेकिन उषा, सरस्वती, अदिति और पृथ्वी जैसी देवियों ने अपना प्रतीकात्मक महत्व बनाए रखा। सरस्वती जो प्रारंभ में एक नदी देवी थीं, आगे चलकर ज्ञान की देवी बन गईं। वहीं अदिति अनंतता और ब्रह्मांडीय मातृ सिद्धांत का प्रतीक थीं।[1]

महत्त्वपूर्ण बात यह है कि महिलाएँ पुरुष-केंद्रित वैदिक देवताओं की मात्र सहायक नहीं थीं। उन्होंने ऋषिकाओं, महिला द्रष्टाओं और वैदिक श्लोकों की रचनाकार के रूप में सक्रिय भूमिकाएं निभाई। करीब 25 से अधिक महिलाओं - जैसे लोपामुद्रा, अपाला, घोषा और वागम्भृणी ने ऋग्वेद में लगभग 266 ऋचाओं का योगदान किया। यह योगदान महिलाओं को दी गई उच्च बौद्धिक और आध्यात्मिक क्षमता को दर्शाता है। तपस्या के माध्यम से एक रोगी, परित्यक्त से एक पूज्य ऋषि के रूप में अपाला का परिवर्तन, लचीलेपन और आत्म-साक्षात्कार की शक्ति के रूप में स्त्रीत्व का प्रतीक है।

देवी सूक्त (ऋग्वेद 10.125) दैवीय स्त्रीत्व की सबसे शक्तिशाली घोषणाओं में से एक है, जहाँ देवी स्वयं को सर्वोच्च शक्ति घोषित करते हुए कहती हैं:

"मैं रानी हूँ, निधियों का संग्रह करने वाली..." केवल मेरे द्वारा ही सभी अपना भोजन खाते हैं।" यह श्लोक स्त्री को ब्रह्मविद्या (सर्वोच्च ज्ञान), अन्नपूर्णा (पोषण करने वाली) और मोक्ष-प्रदायिनी (मुक्ति प्रदान करने वाली) के रूप में प्रस्तुत करता है।

जैसे-जैसे वैदिक चिंतन परिपक्व हुआ, शक्ति - स्त्री ब्रह्मांडीय ऊर्जा की अवधारणा ने विशेष रूप से शाक्त और तांत्रिक परंपराओं में, आध्यात्मिक केन्द्रीयता को प्राप्त कर लिया भारतीय तत्वमीमांसा में, विशेषतौर पर शाक्त और तांत्रिक परंपराओं में, स्त्री को शक्ति के रूप में सम्मान दिया जाता है। वह आदि ऊर्जा हैं जिसके बिना कोई भी रूप या कार्य प्रकट नहीं हो सकता। ऋग्वेद (मंडल 10.125) के देवी सूक्त में स्वयं देवी घोषित करती है:

"मैं राष्ट्र की स्वामिनी हूँ, खजानों को इकट्ठा करने वाली, सबसे विचारशील, पूजा योग्य लोगों में प्रथम... केवल मेरे द्वारा ही सभी लोगों को अपना भोजन खाने को मिलता हैं।"

(ऋग्वेद 10.125)

यहाँ देवियाँ सिर्फ पत्नियाँ नहीं थीं, बल्कि वे स्वयं देवत्व का सार थीं। अंबिका, उमा, दुर्गा और काली जैसी आकृतियों का विकास - जो शुरू में आदिवासी या स्थानीय देवी थीं, वे मुख्यधारा के देवताओं के शक्तिशाली सदस्यों में बदल गई। यह विकास दर्शाता है कि कैसे भारतीय आध्यात्मिकता ने स्त्री आदर्शों को आत्मसात किया उन्हें उन्नत किया।[2]

यह आध्यात्मिक एकीकरण अर्धनारीश्वर की अवधारणा में परिणत होता है, जो शिव और शक्ति का आधा पुरुष और आधा स्त्री रूप है। यह एक तरह से ब्रह्मांडीय संतुलन की प्रतीकात्मक पुष्टि है: शक्ति के बिना शिव एक शव हैं; शिव के बिना शक्ति अराजकता है। यह छवि, जो सांख्य दर्शन से भी जुड़ी है, पुरुष (चेतना) और प्रकृति (सृजनात्मक प्रकृति) को ब्रह्मांड की सह-निर्भर शक्तियों के रूप में चित्रित करती है।

चंपेय गौरार्ध शरीरकायै,
कर्पूर गौरार्ध शरीरकाय,
धम्मिलकायै च जटाधराय,
नमः शिवायै च नमः शिवाय।।[3]

(आधे शरीर में चम्पा पुष्पों-सी गोरी पार्वतीजी हैं और आधे शरीर में कर्पूर के समान गोरे भगवान शंकरजी सुशोभित हो रहे हैं। भगवान शंकर जटा धारण किए हैं और पार्वतीजी के सुंदर केशपाश सुशोभित हो रहे हैं। ऐसी पार्वतीजी और भगवान शंकर को प्रणाम है)

यह श्लोक इस दिव्य मिलन को काव्यात्मक रूप से प्रस्तुत करता है, और शक्ति को 'अन्य' के रूप में नहीं, बल्कि देवत्व के अविभाज्य और समान सार के रूप में प्रस्तुत करता है। रामायण और महाभारत

महिलाओं को निष्क्रिय पात्रों के रूप में नहीं, बल्कि धर्म के केंद्रीय प्रतिनिधि के रूप में चित्रित करके इस कथा को और समृद्ध करते हैं।

सीता पतिव्रता धर्म, अटूट नैतिक अखंडता और आंतरिक शक्ति का प्रतीक हैं। कैकेयी विवादास्पद होने के बावजूद राजनैतिक हस्ती और निर्णय लेने की शक्ति का उदाहरण हैं। महाभारत में द्रौपदी गरिमा और न्याय का प्रतीक बन जाती है, उसका सार्वजनिक अपमान पूरे युद्ध को उत्प्रेरित करता है और उसे महाकाव्य के नैतिक केंद्र में रखता है। कृष्ण की पत्नियाँ रुक्मिणी और सत्यभामा भावनात्मक स्वायत्तता और बौद्धिक संलग्नता दर्शाती हैं। सावित्री, अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति और बुद्धि से यम को पराजित करती है और भाग्य को पुनः लिखती है। ये कथाएँ स्त्रीत्व को निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में साहस, बुद्धि और परिवर्तनकारी ऊर्जा के अवतार के रूप में उभारती हैं।

विद्वान नरेंद्र नाथ भट्टाचार्य के अनुसार, अंबिका, उमा, काली और दुर्गा जैसी कई देवियाँ प्रारंभिक वैदिक धर्म का हिस्सा नहीं थीं। उनकी पूजा विभिन्न जनजातियों द्वारा की जाती थी और उन्हें बाद में वैदिक मान्यताओं में शामिल किया गया। ये देवियाँ शिव पशुपति से भी जुड़ी हुई थीं, जो एक गैर-वैदिक देवता थे। इनके बारे में माना जाता है कि सिंधु घाटी सभ्यता में मोहनजोदड़ो के लोग उनकी पूजा करते थे।[4] दुर्गा, जिन्हें दुर्गी के नाम से भी जाना जाता है, हिमालय से जुड़ी एक पर्वत देवी हैं। और उन्हें तैत्तिरीय आरण्यक और महाभारत जैसे ग्रंथों में कुंवारी के रूप में वर्णित किया गया है। विंध्यवासिनी एक अन्य देवी हैं जिन्हें भी कई ग्रंथों में कुंवारी के रूप में देखा गया है।[5]

सुधा मूर्ति जैसी लेखिकाओं ने इन आदर्शों को सहज रूपों में आधुनिक रूप दिया। त्रिदेवियों - सरस्वती (ज्ञान), लक्ष्मी (समृद्धि) और शक्ति/दुर्गा (शक्ति) का उनका चित्रण, स्त्री आदर्शों के प्रति भारतीय श्रद्धा की पुष्टि करता है।[6] इसके अलावा, ये आदर्श भारतीय जीवन में रोजमर्रा की जिंदगी में बने हुए हैं। नवरात्रि और दुर्गा पूजा जैसे त्योहार महिला देवत्व को योद्धा और पालनकर्ता दोनों के रूप में मनाते हैं। ग्रामीण महिलाएँ स्वास्थ्य, वर्षा और उर्वरता के लिए ग्रामदेवता और ग्राम देवियों की पूजा करती हैं। उनकी यह पूजा स्थानीय संस्कृति को आध्यात्मिक प्रतीकवाद के साथ मिलाती है।

भारतीयता में नारीवाद को परिभाषित करने के लिए केवल जैविक नियतिवाद या सामाजिक भूमिकाओं का उपयोग नहीं किया जाता है, बल्कि उसे आध्यात्मिक महत्व के माध्यम से भी परिभाषित किया जाता है। यह नारीवाद व्यक्तिगत गरिमा को सामाजिक उत्तरदायित्व के साथ, शक्ति को शालीनता के साथ, तथा स्वायत्तता को अन्योन्याश्रितता के साथ सामंजस्य स्थापित करता है। पश्चिमी नारीवाद अक्सर पितृसत्ता, परंपरा और सामाजिक संरचनाओं से विच्छेद के संदर्भ में सशक्तिकरण को परिभाषित करता है। वहीं भारतीय नारीवाद (भारतीयता में निहित) सद्भाव, संबंधों और ब्रह्मांडीय उद्देश्य पर जोर देता है। इसके साथ ही यह समझना भी आवश्यक है कि विदेशी आक्रमण, उपनिवेशवाद और सामंती पितृसत्ता जैसी ऐतिहासिक ताकतों ने इस स्त्री की दृश्यता और शक्ति को नष्ट करने में योगदान दिया है। इन सब बाधाओं के बावजूद भारतीय महिलाओं ने भक्ति आंदोलन, स्वतंत्रता संग्राम और समकालीन जमीनी स्तर के कामों में सक्रिय भूमिका निभाकर अपनी क्षमता का परिचय दिया है और विकास की ओर अग्रसर नारीवाद ढाँचे के भीतर स्त्रीत्व की फिर से व्याख्या की है।

भारतीय सभ्यतागत ढाँचे में 'स्त्रीत्व' न तो अधीनतापूर्ण है और न ही टकरावपूर्ण। यह तो रचनात्मक, सतत् परिवर्तनकारी और मुक्तिदायक है। वैदिक ऋषिकाओं और देवियों से लेकर आधुनिक विचारकों और कलाकारों तक स्त्री को शक्ति के रूप में देखा जाता है। वह आदि ऊर्जा जो ब्रह्मांड को आकार देती है। भारतीयता के माध्यम से नारीत्व की पुनर्कल्पना करने से नारीत्व की संवेदनशील, आध्यात्मिक और सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक समझ विकसित होती है। यह न तो परंपरा को अस्वीकार करता है, न ही आधुनिकता को आँख मूँदकर स्वीकार करता है, बल्कि संतुलित, सामंजस्यपूर्ण सशक्तीकरण की दृष्टि से दोनों की श्रेष्ठ बातों को एकीकार करता है।

धर्मशास्त्र और लिंग व्यवस्था: धारणाएँ और वास्तविकताएँ

धर्मशास्त्र साहित्य में लिंग आधारित भूमिकाओं का विकास एक सूक्ष्म चित्र प्रस्तुत करता है। हालांकि इन ग्रंथों को आधुनिक दृष्टिकोण से देखना और उन्हें पिछड़ा मानना अक्सर आसान होता है, लेकिन भारतीयता पर आधारित सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील व्याख्या सभ्यतागत मूल्यों, इरादों और सामाजिक संरचनाओं को गहराई से उजागर करती है। धर्म की अवधारणा जो भारतीय चिंतन का केंद्र है, उसे कठोर कानून के रूप में नहीं बल्कि एक तरल और प्रासंगिक नैतिक प्रणाली के रूप में लेना चाहिए। इसमें कर्तव्यों को आयु, लिंग, वर्ण और आश्रम के अनुसार परिभाषित किया गया है। इस ढाँचे में, स्मृति ग्रंथों में महिलाओं के साथ व्यवहार, विशेष रूप से मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति में केवल उन पर नियंत्रण के बारे में नहीं था, बल्कि यह व्यवस्था, स्थिरता और उनकी सुरक्षा के बारे में भी था।

भारतीय सभ्यता में, व्यवस्था (ऋत) और धर्म पर हमेशा से ही जोर रहा है। स्मृतियों को अलग- नहीं बनाई गया था, बल्कि बदलती सामाजिक जरूरतों- शहरीकरण, आक्रमण, कबीलों के एकीकरण और ब्राह्मणवादी सत्ता के सामने आने वाली चुनौतियों के जवाब में उनका निर्माण हुआ था। ऐसे माहौल में, परिवार के नैतिक और भावनात्मक आधार के रूप में महिलाओं की भूमिका पर भी ज्यादा जोर दिया गया।

मनुस्मृति में यह कथन कि "सदाचार से रहित पति को भी देवता मानना चाहिए।"[7] पुरुष अत्याचार का शाब्दिक समर्थन नहीं है। बल्कि यह स्त्री सहिष्णुता, संयम और नैतिक दृढ़ता के लिए सामाजिक आकांक्षा को दर्शाता है। यह ऐसे गुण हैं जिन्हें भारतीय लोकाचार में अत्यधिक सम्मान दिया जाता है। महिलाओं को पारिवारिक धर्म की संरक्षक के रूप में देखा जाता था और उनकी प्राथमिक भूमिका नैतिक निरंतरता को बनाए रखना थी, ठीक उसी तरह जैसे पुरुष सामाजिक सुरक्षा और आर्थिक प्रावधान के लिए जिम्मेदार थे। यह विचार भारतीय

दार्शनिक समझ से मेल खाता है कि लिंगों – पुरुष (चेतना) और प्रकृति (ऊर्जा) के बीच कोई प्रतिस्पर्धा नहीं है बल्कि पूरकता है। ये दोनों मिलकर ब्रह्मांडीय संतुलन को बनाए रखते हैं।

मनुस्मृति से अक्सर उद्धृत किया जाने वाला श्लोक:

यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:[8]

जहाँ स्त्रियों की पूजा होती है, वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ स्त्रियों की पूजा नहीं होती, उनका सम्मान नही होता, वहाँ किए गए समस्त अच्छे कर्म भी निष्फल हो जाते हैं। यह अन्य प्रतिबंधात्मक अनुच्छेदों का कोई खंडन नहीं है, बल्कि भारतीयता के मूल में बसी भावना की घोषणा है। यह सरस्वती, लक्ष्मी और दुर्गा जैसी देवियों में प्रकट पवित्र स्त्री के प्रति भारतीय श्रद्धा को दर्शाता है। और यह श्रद्धा कन्या पूजन और नदी देवियों की पूजा जैसी सांस्कृतिक प्रथाओं में परिलक्षित होता है।

प्राचीन भारतीय चिंतन में श्रद्धा और अनुशासन परस्पर विरोधी नहीं थे। जिस तरह ब्रह्मचारी को ज्ञान प्राप्त करने के लिए कठोर व्रतों का पालन करना पड़ता था, उसी तरह महिलाओं को भी व्यक्तिगत गरिमा और सामूहिक सद्भाव सुनिश्चित करने के लिए कर्तव्यों की एक रूपरेखा दी गई थी। सतीत्व, आज्ञाकारिता और परिवार-केंद्रित भूमिकाओं पर जोर देने के पीछे महिलाओं की वैयक्तिकता को अस्वीकर करना नहीं था, बल्कि यह उनके निजी सद्‌गुण को सार्वजनिक व्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करने का एक सभ्यतागत प्रयास था।

वैदिक काल में महिलाओं की बौद्धिक स्वायत्तता का सम्मान किया गया, जैसा कि गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा और घोषा के उदाहरणों में देखने को मिलता है, वहीं स्मृति काल में व्यावहारिक चिंताओं के कारण ध्यान बदल गया। वैदिक कर्मकांड के पतन और राजकौशल, संपत्ति कानून, जाति स्तरीकरण और बाहरी खतरों के बढ़ने के साथ, सामाजिक स्थिरता को बनाए रखना मुख्य चिंता बन गई। स्मृतियों का उद्देश्य नैतिक और सांस्कृतिक विघटन को रोकने

प्राचीन भारतीय चिंतन में श्रद्धा और अनुशासन परस्पर विरोधी नहीं थे। जिस तरह ब्रह्मचारी को ज्ञान प्राप्त करने के लिए कठोर व्रतों का पालन करना पड़ता था, उसी तरह महिलाओं को भी व्यक्तिगत गरिमा और सामूहिक सद्‌भाव सुनिश्चित करने के लिए कर्तव्यों की एक रूपरेखा दी गई थी। सतीत्व, आज्ञाकारिता और परिवार-केंद्रित भूमिकाओं पर जोर देने के पीछे महिलाओं की वैयक्तिकता को अस्वीकर करना नहीं था, बल्कि यह उनके निजी सद्‌गुण को सार्वजनिक व्यवस्था के साथ सामंजस्य स्थापित करने का एक सभ्यतागत प्रयास था

के लिए लोक व्यवहार को संहिताबद्ध करना था। इस दृष्टि से लिंग संबंधी सुझावों को निवारक संरचनाओं के रूप में देखा जाने की आवश्यकता है, न कि दमनकारी रूप में। माँ, पत्नी और नैतिक आधार के रूप में महिला की भूमिका को सभ्यतागत आदर्श के रूप में ऊँचा स्थान दिया गया न कि उसे हीन मानकर अपमानित किया गया।

याज्ञवल्क्य स्मृति को प्राय: अन्य पितृसत्तात्मक ग्रंथों के साथ वर्गीकृत किया जाता है, तथा इसमें प्रगतिशील तत्व सम्मिलित हैं जो भारतीय धर्म की अनुकूलन क्षमता को प्रतिबिंबित करते हैं।[9] यह प्रावधान कि एक महिला किसी संरक्षक की अनुपस्थिति में स्वयं अपना पति चुन सकती है, व्यक्तिगत अधिकार की मान्यता है, जो धार्मिक मर्यादा के अंतर्गत आता है।[10] स्त्रीधन को स्त्री की अपनी संपत्ति के रूप में रखना स्मृति में महिलाओं की आर्थिक सुरक्षा के प्रति चिंता को दर्शाता है, जो उन्हें वैवाहिक या विवाहोत्तर जीवन में शोषण से बचाता है।[11] अपने जन्म और वैवाहिक परिवारों से उपहार पाने के अधिकारों का विवरण, जिसमें दूसरी शादी के मामले भी शामिल हैं, एक सांस्कृतिक रूप से संवेदनशील प्रावधान है जो नियंत्रण पर नहीं बल्कि करुणा और न्याय पर आधारित है। ये उदाहरण दर्शाते हैं कि पितृसत्ता के ढाँचे के भीतर भी स्मृतियों में लचीलापन, संवेदनशीलता और सांस्कृतिक निरंतरता बरकरार थी।

भारतीय सभ्यता के व्यापक आध्यात्मिक और सांस्कृतिक स्वरूप को पहचाने बिना स्मृतियों की आलोचना करने पर उनके उद्देश्य के विकृत होने का जोखिम है। भारतीयता में महिलाओं को शक्ति, सृजन की गतिशील ऊर्जा के रूप में देखा जाता है, चाहे वह बुराई पर विजय पाने वाली दुर्गा हों या कठिनाइयों के समय दृढ़ता का उदाहरण प्रस्तुत करने वाली सीता हों। वैवाहिक निष्ठा, आत्म-बलिदान और भावनात्मक बुद्धिमत्ता समर्पण के संकेत नहीं थे, बल्कि आध्यात्मिक उत्कृष्टता के लक्षण थे, जिसकी आकांक्षा पुरुष भी वानप्रस्थ और संन्यास जैसी भूमिकाओं में करते थे। यहाँ तक कि महात्मा गांधी, स्वामी विवेकानंद और श्री अरविंद जैसे आधुनिक प्रतीकों ने भी इन सभ्यतागत आदर्शों से प्रेरणा ली थी। इन आदर्शों उद्देश्य महिलाओं पर अत्याचार करना नहीं था, बल्कि धार्मिक नारीत्व की गरिमा को बहाल करना था। संस्कृत शिक्षा और वैदिक अनुष्ठानों से महिलाओं को धीरे -धीरे बाहर रखा जाना अंतर्निहित स्त्री-द्वेष के कारण नहीं था, बल्कि निम्नलिखित कारणों से था:

1-ज्ञान की आनुष्ठानिक विशेषज्ञता
2-मंदिर-केंद्रित ब्राह्मणवादी रूढ़िवाद
3-विदेशी आक्रमणों के तहत राजनैतिक अस्थिरता

हालांकि महिलाओं के लिए शिक्षा कभी पूरी तरह से खत्म नहीं हुई। तमिलनाडु में अंडाल जैसी महिला कवियों का बोलबाला रहा। महाराष्ट्र में मुक्ताबाई और ज्ञानेश्वरी जैसी महिला संतों का प्रभाव भारतीय परंपरा के भीतर लचीली स्त्री आध्यात्मिकता का प्रमाण है।

भारतीयता के चश्मे से धर्मशास्त्र को समझने का मतलब है कि भारतीय संस्कृति ने हमेशा श्रद्धा को नुस्खे के साथ, संयम

को जिम्मेदारी के साथ और भूमिकाओं को सम्मान के साथ संतुलित किया है। स्मृतियां भले ही लैंगिक समानता के आधुनिक उदार विचारों को प्रतिबिंबित न करती हों, लेकिन वे एक गहन सभ्यतागत नैतिकता को मूर्त रूप देती हैं, जिसका उद्देश्य सांस्कृतिक रूप से प्रासंगिक ढाँचों के माध्यम से समाज को स्थिर करना, सद्गुणों को ऊपर उठाना और सम्मान की रक्षा करना है। आवश्यकता इन ग्रंथों को पूरी तरह से खारिज करने की नहीं, बल्कि इन ग्रंथों की एक विचारशील पुनर्व्याख्या करने की है। ऐसी पुनर्व्याख्या जो उनकी भावना का सम्मान करे, उनकी कठोरताओं पर प्रश्न उठाए ,साथ ही शक्ति और धर्म के बीच खोए हुए संतुलन को फिर प्राप्त करे। एक ऐसा संतुलन जिसने कभी महिलाओं को ऋषिका, वाद-विवादकर्ता, सृजनकर्ता और आध्यात्मिक आदर्श बनने के लिए सशक्त बनाने में योगादान दिया था।

भक्ति परंपरा में स्त्री स्वर

भक्ति आंदोलन भारतीयता के भीतर एक गहन आध्यात्मिक धारा को प्रतिबिंबित करता है। यह धारा रूप से परे आंतरिक स्वतंत्रता भक्ति और सामाजिक पहचान से परे स्वयं (आत्मा) की गरिमा की बात करता है। इस सभ्यतागत दृष्टिकोण से भक्ति में स्त्री स्वर की जाँच करने से पता चलता है कि भारतीय परंपरा एक अखंड नहीं है, बल्कि एक गतिशील स्थान है जो अपनी आध्यात्मिक जड़ को त्यागे बिना असहमति, सुधार और उत्कृष्टता को स्थान देती है। मनुस्मृति में वर्णित पारंपरिक भारतीय संरचनाओं में महिलाओं की भूमिका को आज्ञाकारिता और शुद्धता के माध्यम से परिभाषित किया गया है।

हालांकि भक्ति ने एक पुनर्कल्पित धर्म की पेशकश की जो सामाजिक दायित्व पर आधारित न होकर व्यक्तिगत भक्ति पर आधारित है। ये धर्म कठोर रूढ़िवादिता के बजाय व्यक्तिगत आध्यात्मिक विकास पर भारतीयता के गहन जोर के साथ संरेखित है। मीराबाई और अक्का महादेवी जैसे संतों ने विवाह और पद का त्याग किया, भारतीय मूल्यों की अस्वीकृति के रूप में नहीं किया था, बल्कि आंतरिक धर्म की पुष्टि के रूप मे किया था। एक ऐसी अवधारणा जो भारतीय विचारों में गहराई से निहित है। अंडाल ने दुल्हन रहस्यवाद को अपनाते हुए शारीरिक अभिव्यक्ति को विद्रोह के माध्यम से नहीं बल्कि पवित्र समर्पण के माध्यम से व्यक्त किया है। उनकी यह अभिव्यक्ति भारतीय दृष्टिकोण के अनुरूप है कि देवत्व सर्वव्यापक है। इस प्रकार भारतीयता धर्म की पुनर्व्याख्या को निश्चित संहिता के रूप में नहीं बल्कि जीवंत आंतरिक सत्य (स्वधर्म) के रूप में करने की अनुमति देती है, ताकि महिलाएँ परंपरा से अलग हुए बिना अपनी आवाज पुनः प्राप्त करने में सक्षम हो सकें । भक्ति परंपरा में भगवान पुरुष हैं, लेकिन पितृसत्तात्मक नहीं। वह एक प्रिय साथी है, दैव समान है। महिला संत न तो आज्ञाकारी पत्नी है और न ही कोई बाहरी विद्रोही है, वह एक साधक है जो सांसारिक भूमिकाओं से परे जाने के लिए प्रेम की भाषा का उपयोग करती है। करैक्कल अम्मैयर का भूत-सदृश तपस्वी (प्रेत) बनना तथा अव्वैयार कामुकता त्यागना पवित्र त्याग को व्यक्त करता है, जो भारतीयता का परित्याग नहीं है, बल्कि इसके तपस्वी, त्यागी स्वरूप के साथ गहन समन्वय है। इसके विपरीत, अंडाल और अक्का महादेवी तांत्रिक भारतीयता को व्यक्त करती हैं, जहाँ शरीर ही दिव्य मिलन का मार्ग है, जो प्राचीन शाक्त परंपराओं की प्रतिध्वनि है। ये विरोधाभास दर्शाते हैं कि भारतीयता में तपस्वी त्याग और मूर्त भक्ति दोनों शामिल हैं, जो पवित्रता की विविध स्त्रियोचित अभिव्यक्ति को संभव बनाती हैं।

भक्ति काव्य में तमिल, कन्नड़, मराठी, गुजराती आदि स्थानीय भाषाओं का प्रयोग भारतीयता के लोकधर्म के सिद्धांत के अनुरूप है, जहाँ ज्ञान का प्रवाह लोक मुहावरों के माध्यम से होता है, न कि कुलीन संस्कृत के माध्यम से। जनाबाई, मुक्ताबाई और गंगासती जैसी संतों ने आध्यात्मिक लोकतंत्र के भारतीय सिद्धांत को मूर्त रूप देते हुए न केवल महिलाओं के लिए, बल्कि पूरे समाज के लिए लिखा। महिलाओं को गुरु परंपरा में शामिल किया गया, जिससे इस बात को बल मिला कि भक्ति केवल महिलाओं को सहन नहीं करती है बल्कि उन्हें जीवित परंपराओं में समाहित भी करती है। इसका उदाहरण वरकरी आंदोलन में देखने को मिला जहाँ संत जनाबाई को पुरुष संतों के समकक्ष माना जाता था। यहाँ भारतीयता बहिष्कारवादी न होकर, लचीली, बहुलवादी है व लिंग या जाति से परे आध्यात्मिक गुणों को समायोजित करने वाली है।

भक्ति कविता में अक्सर लिंग को धुंधला कर दिया जाता है, जिसमें पुरुष संत स्त्री स्वर ("ईश्वर की दुल्हन") को अपनाते हैं और महिला संत स्त्री शरीर के कामुक दृष्टिकोण से ऊपर उठ जाती हैं। दैवीय माया का प्रतिबिंब "जो आत्मा इन दोनों के बीच में है, वह न तो पुरुष है और न ही महिला" सीधे वेदांतिक अद्वैत प्रेरित है, जो भारतीयता के केंद्र में है। अक्का महादेवी की नग्नता शर्मनाक विद्रोह नहीं है, बल्कि उपनिषदिक सत्य को प्रतिध्वनित करते हुए स्वयं का दावा है कि न अयं आत्मा जीवं अनुशास्ति (यह आत्मा किसी भी प्राणी द्वारा नियंत्रित नहीं है)। यहाँ भक्ति पश्चिमी नारीवाद नहीं है - यह भारतीय उत्थान है जहाँ लिंग भ्रम (माया) है और भक्ति मुक्ति है।

हालांकि कई भक्तिनों ने सार्वजनिक रूप से घुंघरू पहनना, विवाह के बजाय एकांतवास करना जैसे मानदंडों को अस्वीकार कर दिया, लेकिन उन्होंने भारतीय आध्यात्मिक विश्वदृष्टि को नहीं छोड़ा। उनका विद्रोह भारतीय विरोधी नहीं था, बल्कि उसी सांस्कृतिक ढाँचे पर आधारित था जिसने कभी उन्हें प्रतिबंधित किया था। मीराबाई का कृष्ण की भक्ति में निमग्न होकर अपने ससुराल की देवी की पूजा करने से इनकार करना हिंदू बहुलवाद के भीतर एक साहसिक व्यक्तिगत कार्य है। उनकी कविता में प्रत्यक्ष विरोध अनुपस्थिति है लेकिन का मतलब अनुपालन नहीं है। यह टकराव के माध्यम से नहीं, बल्कि भक्ति के माध्यम से परिवर्तन के भारतीय मार्ग को दर्शाता है।

प्राचीन और मध्यकालीन भारत में नारीवाद

डॉ. जमाल ए. बदावी के अनुसार, समकालीन समय में महिलाओं को जो दर्जा प्राप्त है, वह उन्हें पुरुषों की उदारता या सामाजिक विकास के स्वाभाविक उपोत्पाद के बदौलत नहीं

मिला है। बल्कि यह लचीलेपन और त्याग से भरे एक लंबे संघर्ष का परिणाम था जिसके माध्यम से महिलाओं ने अपने अधिकारों और स्वतंत्रता का दावा किया। महत्त्वपूर्ण बात यह है कि समाज ने महिलाओं के योगदान को तभी स्वीकार करना शुरू किया जब उसे तीव्र आर्थिक और जनसांख्यिकीय माँगों का सामना करना पड़ा, खास तौर पर विश्व युद्धों और उसके बाद हुई तकनीकी क्रांतियों के दौरान। यह स्वीकृति परिवर्तनकारी की अपेक्षा उपयोगितावादी अधिक थी या यूँ कहें कि वैचारिक प्रगति की अपेक्षा आवश्यकता से प्रेरित थी।[12]

इसके विपरीत भारतीय सभ्यता अपने शैशवाकाल में विशेष रूप से ऋग्वेदिक काल के दौरान, एक अलग ही लोकाचार प्रस्तुत करती है। बौद्धिक और आध्यात्मिक दोनों क्षेत्रों में महिलाओं को एक सम्मानजनक और अभिन्न स्थान प्राप्त था। महिलाओं को औपचारिक शिक्षा प्राप्त थी, वे आध्यात्मिक वाद-विवाद में सक्रिय रूप से भाग लेती थीं, और कुछ ने तो ऋषिका (महिला ऋषि) का दर्जा भी प्राप्त कर लिया था, जिन्होंने ऋग्वेद में स्तोत्रों की रचना की थी। इस अवधि के दौरान धार्मिक अनुष्ठानों, दार्शनिक प्रवचनों और घरेलू शासन में महिलाओं की भागीदारी एक सभ्यतागत संरचना को दर्शाती है। यह संरचना महिलाओं को धर्म के सह-निर्माता के रूप में देखती है न कि केवल इसके लाभार्थी के रूप में।

मौर्य काल में, जब समाज की संरचनात्मक जटिलता बढ़ी, तो महिलाओं के लिए कुछ प्रशासनिक और सुरक्षा भूमिकाएं सामने आईं। ऐतिहासिक अभिलेखों में महिला अंगरक्षकों, जासूसों और स्त्री-अध्यक्ष महामात्र (महिला मामलों के लिए अधिकारी) जैसे नौकरशाही पदों का संकेत मिलता है। इन नियुक्तियों से पता चलता है कि महिलाओं की क्षमताओं को शासन-प्रशासन और लोक प्रशासन में, खास तौर पर कुलीन और शाही हलकों में स्वीकार किया।

हालांकि, स्मृति साहित्य, खासतौर पर मनुस्मृति की रचना और उसके संहिताकरण के साथ ही लिंग भूमिकाओं का एक अधिक कठोर और पदानुक्रमित मॉडल हावी होने लगा। मनु का यह कथन कि स्त्री को बचपन में पिता, युवावस्था में पति तथा वृद्धावस्था में पुत्र के संरक्षण में रहना चाहिए, वैदिक चिंतन में मान्यता प्राप्त स्वायत्तता से पितृसत्तात्मक पारिवारिक संरचना की ओर एक दार्शनिक तथा सामाजिक-कानूनी बदलाव को दिखाता है।[13] यह विकास भारतीयता के मूल को प्रतिबिंबित नहीं करता था, बल्कि बढ़ते राजनैतिक केंद्रीकरण और उभरती सामाजिक-धार्मिक रूढ़िवादिता की प्रतिक्रिया थी।

11वीं शताब्दी में शुरूआत में हुए इस्लामी हमलों ने भारतीय उपमहाद्वीप में लैंगिक गतिशीलता को बहुत अधिक प्रभावित किया। कई आक्रमणकारी शक्तियां अपने साथ मध्य पूर्वी पितृसत्ता में निहित सामाजिक मानदंड लेकर आईं। उनके यहाँ महिलाओं को बड़े पैमाने पर पुरुष अभिभावक अपनी जागीर मानते थे, और उन्हें स्वतंत्र कानूनी या आध्यात्मिक पहचान से वंचित रखा जाता था। ये दृष्टिकोण धीरे -धीरे भारतीय सामाजिक ताने-बाने में रच-बस गया, खासकर उत्तरी क्षेत्रों में। महिलाओं को अपहरण, हिंसा या अपमान के खतरे से बचाने के लिए भारतीय परिवारों ने पर्दा प्रथा (महिलाओं को अलग-थलग रखना) अपनाना शुरू कर दिया। पहले पर्दा प्रथा भारतीय परंपराओं के लिए विदेशी प्रथा थी।

इस रक्षात्मक सांस्कृतिक अनुकूलन के निहितार्थ बहुत गहरे थे। लड़कियों को बोझ समझा जाने लगा। जिसके चलते बाल विवाह, महिला शिक्षा पर प्रतिबंध और जौहर (सामूहिक आत्मदाह) और सती (पति की चिता पर आत्मदाह) जैसी प्रथाओं का प्रचलन बढ़ गया। हालांकि अब इन प्रथाओं की निंदा होती है, लेकिन ये सामाजिक भय, सम्मान-आधारित मूल्यों और महिलाओं की घटती स्वायत्तता के जटिल अंतर्संबंधों से उत्पन्न हुई थीं।[14] ऐसे परिवर्तन पहले की भारतीय परंपराओं में देखी गई स्त्रीत्व की समग्र और सशक्त दृष्टि से एक महत्त्वपूर्ण विचलन को प्रदर्शित करते हैं।

दिल्ली सल्तनत और मुगल काल के दौरान महिलाओं की स्थिति आम तौर पर सीमित रही, लेकिन एक समान नहीं थी। इस्लामी इतिहासकारों का ध्यान मुख्य रूप से मुस्लिम समाजों पर था। जिसके चलते हिन्दू महिलाओं के इतिहास का अधिकांश भाग अलबरूनी के तहकीक मा लिल-हिंद और क्षेत्रीय स्थानीय स्रोतों जैसे ग्रंथों के माध्यम से जानने को मिला। मुस्लिम महिलाओं की शिक्षा अक्सर धार्मिक शिक्षा तक ही सीमित थी, हिंदू शाही महिलाओं को, विशेषकर राजपूत और मराठा दरबारों में, युद्ध, कूटनीति और शासन में प्रशिक्षित किया जाता था, लेकिन पर्दा प्रथा के बढ़ते प्रचलन के कारण ऐसी प्रथाएं धीरे-धीरे कम हो गईं। फिर भी, इन मुश्किल समयों में भी, आदर्श के अपवाद देखने को मिले। इल्तुतमिश की बेटी रजिया सुल्तान ने अपने समय की लैंगिक और राजनैतिक परंपराओं को धता बताते हुए 13वीं शताब्दी में बतौर दिल्ली के सुल्तान के रूप में शासन किया। यद्यपि महिला सत्ता के प्रति दरबारी प्रतिरोध के कारण उनका शासनकाल अल्पकालिक रहा, फिर भी उनका राज्याभिषेक अपने आप में एक गहरी सभ्यतागत स्मृति का प्रतीक था जिसने महिलाओं को सक्षम शासकों के रूप में मान्यता दी। इसके अलावा, विभिन्न क्षेत्रीय राजवंशों जैसे कि दक्षिण भारतीय रानियों, गोंडवाना की रानी दुर्गावती, और बाद में कर्नाटक की रानी अब्बक्का ने विदेशी प्रभुत्व के बीच भी भारतीयता के दायरे में रहते हुए लगातार स्त्री नेतृत्व के लचीलेपन का प्रदर्शन किया।

इसके अलावा गुलामी, बहुविवाह और संस्थागत वेश्यावृत्ति जैसी घातक प्रथाओं को सल्तनत और मुगल काल के दौरान बढ़ावा मिला। ये प्रथाएं अक्सर हिंदू और इस्लामी सामाजिक-राजनैतिक संरचनाओं के साथ जुड़ी रहीं। हालांकि शक्ति, धर्म और गृहस्थाश्रम के सिद्धांतों पर आधारित भारतीयता में नारीत्व का आदर्श कभी पूरी तरह से समाप्त नहीं हुआ। यह लोक परंपराओं, मंदिर अनुष्ठानों में अंतर्निहित रहा। भक्ति आंदोलन और मौखिक इतिहास ने सांस्कृतिक निरंतरता प्रदान की और भविष्य के सुधार आंदोलनों के लिए आधार तैयार किया।

यह ऐतिहासिक परीक्षण दर्शाता है कि भारत में महिलाओं की स्थिति में गिरावट की वजह भारतीयता नहीं थी, बल्कि विदेशी आक्रमणों, सामाजिक-राजनैतिक अस्थिरता और सांस्कृतिक रक्षात्मकता के कारण इसके

मूल मूल्यों का क्रमिक क्षरण था। महिलाओं की स्वायत्तता का दमन सभ्यतागत या मूल रूप से धार्मिक न होकर प्रासंगिक और आकस्मिक था।

इस अंतर को पहचानना इस बात को समझने के लिए महत्त्वपूर्ण है कि भारत में लैंगिक न्याय का मार्ग केवल आधुनिक कानूनी सुधार या पश्चिमी नारीवादी आदर्शों के बारे में नहीं है, बल्कि भारतीय सभ्यतागत लोकाचार को पुनर्जीवित करने और उसकी पुनर्व्याख्या करने के बारे में भी है। यह लैंगिक न्याय कभी नारीत्व को पवित्र, संप्रभु और ब्रह्मांडीय और सामाजिक व्यवस्था के केंद्र के रूप में सम्मान देता था।

भारतीय स्त्री पहचान पर औपनिवेशिक प्रभाव: प्रतिरोध और पुनर्व्याख्या के बीच

"जब तक महिलाओं की स्थिति में सुधार नहीं होता, तब तक दुनिया के कल्याण के बारे में सोचना असंभव है। एक पक्षी के लिए केवल एक पंख पर उड़ना असंभव है।"

– स्वामी विवेकानंद

औपनिवेशिक युग के चलते भारतीय समाज में न केवल राजनैतिक और आर्थिक संरचनाओं में बल्कि स्त्री पहचान के निर्माण में भी गहरा परिवर्तन देखने को मिला। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने एक सभ्य शक्ति होने का दावा करते हुए अक्सर भारतीय महिलाओं को पिछड़ी पितृसत्तात्मक परंपरा का शिकार बताया, ताकि हस्तक्षेपकारी सुधाऐं को उचित ठहराया जा सके। गौरतलब है कि औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की वास्तविक स्थिति पहले से मौजूद सामाजिक रीति-रिवाजों और विकसित हो रही औपनिवेशिक कानूनी और शैक्षिक प्रणालियों दोनों से ही काफी हद तक प्रभावित थी।

इस अवधि के दौरान महिलाओं की स्थिति काफी हद तक उनके जीवन में शामिल पुरुषों - पिता, पति या पुत्र पर निर्भर रही।[15] गहरी जड़ें जमाए धार्मिक और सांस्कृतिक मानदंडों ने महिला आज्ञाकारिता, शुद्धता और घरेलूता को महत्त्व दिया, जिससे शिक्षा, रोजगार और सार्वजनिक विमर्श के क्षेत्रों में महिलाओं को प्रभावी रूप से हाशिए पर डाल दिया गया। जबकि उच्च जाति और कुलीन महिलाओं के पास सीखने और सामाजिक प्रभाव तक सीमित पहुँच थी। अधिकांश भारतीय महिलाओं को विशेष रूप से शहरी या आर्थिक रूप से पिछड़े समुदायों से आने वाली महिलाओं को अपने बुनियादी अधिकारों के बारे में भी पता नहीं था जिसके वजह से उन्हें व्यवस्थागत अभाव, निरक्षरता, गरीबी और निर्भरता का सामना करना पड़ा।[16]

औपनिवेशिक काल के दौरान प्रारंभिक भारतीय नारीवादी जागृति सामाजिक सुधार आंदोलन के साथ गहराई से जुड़ी हुई थी, जिसका ध्यान सती, कन्या भ्रूण हत्या, बाल विवाह, बहुविवाह, विधवापन और पर्दा प्रथा जैसे मुद्दों को संबोधित करने पर था। सुधारकों ने महिलाओं की शिक्षा, रोजगार और कानूनी सुरक्षा तक पहुँच बढ़ाने की कोशिश की धीरे -धीरे महिलाओं की राजनैतिक भागीदारी और मताधिकार का मार्ग प्रशस्त किया।[17]

उस समयकी चुनौतियों में सबसे जघन्य प्रथाओं में से एक थी सती प्रथा, जो विशेष रूप से बंगाल में प्रचलित थी। लेकिन जातिगत रेखाओं के पार, विशेष रूप से ब्राह्मणों और राजपूतों के बीच भी यह प्रथा चलन में थी। जबकि कुछ शाही परिवारों में इसे पुण्य का कार्य मानकर महत्त्व दिया जाता था, लेकिन सामाजिक दबाव, धार्मिक हठधर्मिता और विधवाओं की स्वायत्तता को नकारने के कारण इसे बड़े पैमाने पर मध्यम और निम्न मध्यम वर्ग की महिलाओं पर थोपा जाता था। ऐसी प्रथाओं के कारण जटिल थे जैसे महिलाओं की निम्न सामाजिक स्थिति, दहेज प्रथा, एक से अधिक विवाह की प्रथा और परिवार के सम्मान को बनाए रखने का बोझ- इन सबने ऐसी हिंसा को सामान्य बना दिया।[18]

राजा राम मोहन राय और ईश्वर चंद्र विद्यासागर जैसे दूरदर्शी लोगों ने इन दमनकारी प्रथाओं को चुनौती देने के प्रयासों का नेतृत्व किया। सती प्रथा के खिलाफ राजा राम मोहन राय के अभियान का परिणाम ही था कि 1829 में इसके कानूनी उन्मूलन का नियम बना। वहीं विद्यासागर के प्रयासों के परिणामस्वरूप 1856 में हिंदू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम पारित हुआ। विद्यासागर ने भी शिक्षा को सशक्तिकरण के लिए एक महत्त्वपूर्ण साधन माना और बंगाल में 35 से अधिक बालिका विद्यालयों की स्थापना की।[19] इसके अतिरिक्त, 1854 के चार्ल्स वुड डिस्पैच ने सामाजिक सुधार में महिला शिक्षा की भूमिका पर जोर दिया, जिससे आधुनिक भारतीय नारीवाद के लिए संस्थागत नींव रखने में मदद मिली।[20]

इन सुधारकों ने भारतीय परंपरा के विरोध में काम नहीं किया। बल्कि उन्होंने हिंदू धर्मग्रंथों और धार्मिक आदर्शों की पुनर्व्याख्या की महिलाओं के अधिकारों के साथ तालमेल बिठाया जा सके। यह रणनीति भारतीय सभ्यता के एक गहन पहलू को दर्शाती है वह है भारतीय सभ्यता के लोकाचार की क्षमता जो अपने आधारभूत मूल्यों को त्यागे बिना आत्मनिरीक्षण और सुधार के माध्यम से विकसित हो सकती है।

भारतीय नारीवाद और परंपरा के बीच का संबंध न तो द्विआधारी है और न ही विरोधी। इन सबसे इतर यह प्रतिरोध और पुनर्व्याख्या के बीच चल रहे संवाद का प्रतिनिधित्व करता है। जबकि भारत में

औपनिवेशिक युग के चलते भारतीय समाज में न केवल राजनैतिक और आर्थिक संरचनाओं में बल्कि स्त्री पहचान के निर्माण में भी गहरा परिवर्तन देखने को मिला। ब्रिटिश उपनिवेशवाद ने एक सभ्य शक्ति होने का दावा करते हुए अक्सर भारतीय महिलाओं को पिछड़ी पितृसत्तात्मक परंपरा का शिकार बताया, ताकि हस्तक्षेपकारी सुधाऐं को उचित ठहराया जा सके। गौरतलब है कि औपनिवेशिक भारत में महिलाओं की वास्तविक स्थिति पहले से मौजूद सामाजिक रीति-रिवाजों और विकसित हो रही औपनिवेशिक कानूनी और शैक्षिक प्रणालियों दोनों से ही काफी हद तक प्रभावित थी

1947 में भारत को आजादी मिलने के बाद, भारतीय संविधान ने महिलाओं के अधिकारों के लिए एक प्रगतिशील कानूनी आधार तैयार किया। इसमें समानता, गैर-भेदभाव और शिक्षा और रोजगार का वादा किया गया। हालांकि, औपनिवेशिक काल के बाद की अधिकांश भारतीय महिलाओं के लिए वास्तविकता इन आदर्शों से कोसों दूर रही। समाज की जड़ों में पैठ बना चुका पितृसत्तात्मक ताना-बाना, खास तौर पर ग्रामीण और रूढ़िवादी क्षेत्रों में, महिलाओं की स्वायत्तता और सार्वजनिक जीवन में उनकी उपस्थिति को सीमित कर दिया। हालांकि बाल विवाह निरोधक अधिनियम और 1961 के दहेज निषेध अधिनियम जैसे कानून भी बने, लेकिन जड़ जमाए सामाजिक-सांस्कृतिक कुप्रथाओं ने यह सुनिश्चित किया कि बाल विवाह, दहेज से संबंधित हिंसा और लिंग आधारित भेदभाव पूरे देश में व्यापक रूप से जारी रहे

नारीवादी चिंतन ने प्रायः दहेज प्रथा और कम उम्र में विवाह जैसी पितृसत्तात्मक प्रथाओं का विरोध किया है। इसने नारीत्व को सशक्त बनाने के लिए सांस्कृतिक और आध्यात्मिक विरासतों का भी सहारा लिया है। पश्चिमी नारीवाद के विपरीत, जो अक्सर व्यक्तिवाद और धर्मनिरपेक्ष मुक्ति पर जोर देता है, भारतीय नारीवाद अक्सर कुटुंब (परिवार), धर्म (कर्तव्य) और सामुदायिक (समुदाय-आधारित पहचान) के ढाँचे के भीतर काम करता है।

यह सांस्कृतिक द्वंद्व भारतीय नारीवाद को पारंपरिक परिवेश में गहराई से प्रतिध्वनित होने की अनुमति देता है, क्योंकि यह मातृ (माँ), दुहिता (बेटी) या भार्या (पत्नी) जैसी भूमिकाओं को सीमाओं के प्रतीक के रूप में नहीं, बल्कि प्रभाव, नैतिक अधिकार और सामाजिक एजेंसी के पदों के रूप में पुनः प्राप्त करता है। यह एकीकृत दृष्टिकोण मौजूदा संबंधात्मक संरचनाओं को नष्ट किए बिना स्त्री स्वातंत्र्य (महिलाओं की स्वायत्तता) को बढ़ावा देता है।[21] सांस्कृतिक आख्यानों को खारिज करने के बजाय भारतीय नारीवादी चिंतन ने आध्यात्मिक और पाठ्य परंपराओं में वैधता की लगातार तलाश की। ऋग्वेद में लोपामुद्राघोषा और वाक् अम्भृणी जैसी महिला ऋषियों का उल्लेख है, जिन्होंने दार्शनिक बहसों में भाग लिया और श्लोक लिखे।[22] भारतीयता में निहित सशक्त महिलाओं की यह ऐतिहासिक स्मृति भारतीय महिलाओं को सार्वभौमिक रूप से उत्पीड़ित के रूप में औपनिवेशिक चित्रण को चुनौती देती है। भारतीयता में निहित सशक्त महिलाओं की यह ऐतिहासिक स्मृति, भारतीय महिलाओं को सार्वभौमिक रूप से उत्पीड़ित के रूप में दर्शाने वाली औपनिवेशिक छवि को चुनौती देती है।

इसके अलावा, समाज सुधारक (समाज सुधारक) परंपरा, जिसमें दयानंद सरस्वती और आर्य समाज जैसे विचारक शामिल थे, ने भी लैंगिक न्याय को पाने के साधन के रूप में शास्त्रों की पुनर्व्याख्या पर जोर दिया। उनके प्रयासों से पता चलता है कि भारतीय परंपरा स्वाभाविक रूप से पितृसत्तात्मक होने से कहीं आगे है, इसमें समानता और मुक्ति के बीज निहित हैं, जो बदलते समय के साथ फिर से सक्रिय होने की प्रतीक्षा कर रहे हैं।[23]

औपनिवेशिक संघर्ष ने निस्संदेह भारतीय लैंगिक विमर्श को नया रूप दिया। इसने नए कानूनी ढाँचे और शैक्षणिक संस्थानों की शुरुआत की, प्राच्यवादी रूढ़ियों और सुधार के शीर्ष-से-नीचे मॉडल को भी मजबूत किया। हालांकि औपनिवेशिक शासन के दौरान और उसके बाद, भारतीय नारीवादी आंदोलन ने परंपरा और आधुनिकता के बीच तालमेल बिठाने की उल्लेखनीय क्षमता का प्रदर्शन किया है।

धार्मिक सभ्यतागत लोकाचार से प्रेरणा लेते हुए नुकसान पहुंचाने वाले रीति-रिवाजों को चुनौती देकर, भारतीय नारीवाद का विकास एक अद्वितीय मॉडल के रूप में हो रहा है। यह मॉडल न केवल कानूनी समानता चाहता है, बल्कि सांस्कृतिक संप्रभुता और आध्यात्मिक समावेश भी चाहता है।

21वीं सदी में भारतीय स्त्री पहचान को पुनः प्राप्त करना

1947 में भारत को आजादी मिलने के बाद, भारतीय संविधान ने महिलाओं के अधिकारों के लिए एक प्रगतिशील कानूनी आधार तैयार किया। इसमें समानता, गैर-भेदभाव और शिक्षा और रोजगार का वादा किया गया। हालांकि, औपनिवेशिक काल के बाद की अधिकांश भारतीय महिलाओं के लिए वास्तविकता इन आदर्शों से कोसों दूर रही। समाज की जड़ों में पैठ बना चुका पितृसत्तात्मक ताना-बाना, खास तौर पर ग्रामीण और रूढ़िवादी क्षेत्रों में, महिलाओं की स्वायत्तता और सार्वजनिक जीवन में उनकी उपस्थिति को सीमित कर दिया। हालांकि बाल विवाह निरोधक अधिनियम और 1961 के दहेज निषेध अधिनियम जैसे कानून भी बने, लेकिन जड़ जमाए सामाजिक-सांस्कृतिक कुप्रथाओं ने यह सुनिश्चित किया कि बाल विवाह, दहेज से संबंधित हिंसा और लिंग आधारित भेदभाव पूरे देश में व्यापक रूप से जारी रहे।

व्यवहार में, स्वतंत्रता के बाद के दशकों में एक महिला की पहचान अब भी काफी हद तक एक "अच्छी पत्नी और माँ के रूप में उसकी भूमिका से तय होती थी। घरेलू क्षेत्र से बाहर महिलाओं के काम को अक्सर या तो हतोत्साहित करते थे या फिर उसे कलंकित करते थे। खासकर मध्यम और उच्च जाति की महिलाओं के लिए। सामाजिक मानदंडों ने तय किया कि महत्वाकांक्षा या उसका मुखर होना एक महिला के लिए अनुचित है। महिलाओं को भोजन, स्वास्थ्य सेवा, शिक्षा और आवागमन तक समान पहुंच जैसे बुनियादी अधिकारों से अक्सर वंचित रखा जाता था। वे अक्सर परिवार के पुरुषों के बाद खाना खाती थीं, और कुपोषण, समय से पहले गर्भधारण और अपर्याप्त स्वास्थ्य सेवा बुनियादी ढाँचे के

कारण उनकी मातृ मृत्यु दर उच्च थी।[24]

यूनिसेफ के एक अनुमान के अनुसार, कन्या भ्रूण हत्या और उनकी उपेक्षा जैसी कुरीतियों के कारण भारतीय जनसंख्या से लगभग 50 मिलियन महिलाएँ "लापता" हो गईं। यह स्त्री पहचान के घोर अवमूल्यन को उजागर करता है।[25]

इन चुनौतियों के बावजूद, स्वतंत्रता के बाद की अवधि में महिला सशक्तीकरण का क्रमिक उदय भी देखने को मिला, विशेष रूप से 1960 के दशक के बाद। साक्षरता की बढ़ती दर, शिक्षा में राज्य के निवेश में वृद्धि, सर्व शिक्षा अभियान और साक्षर भारत मिशन जैसे सामाजिक सुधार कार्यक्रमों ने परिदृश्य को बदलना शुरू कर दिया। 1950 के दशक में महिला साक्षरता दर 10% से बढ़कर 2000 के दशक की शुरूआत में 50% से अधिक हो गई।[26]

उच्च शिक्षा और व्यावसायिक प्रशिक्षण तक पहुँच ने महिलाओं को चिकित्सा, कानून, सिविल सेवा, शिक्षा और इंजीनियरिंग जैसे क्षेत्रों में प्रवेश करने का अवसर दिया जिन पर पहले पुरुषों प्रभुत्व था।

अंतरिक्ष अन्वेषण में कल्पना चावला, पुलिसिंग में किरण बेदी, कॉर्पोरेट नेतृत्व में इंद्रा नूयी और वैश्विक सिनेमा में गुनीत मोंगा जैसी महिलाएँ प्रतिष्ठित व्यक्तित्व बन गई, जो महत्वाकांक्षी, सक्षम और अपनी जड़ों से जुड़ी आधुनिक भारतीय महिला का प्रतीक बन गईं। अरुंधति रॉय, किरण देसाई और कोंकणा सेन शर्मा जैसी साहित्यिक और कलात्मक आवाजों ने भारतीय नारी का सूक्ष्म, मुखर और आलोचनात्मक चित्रण पेश करके स्त्रीत्व के पारंपरिक प्रतिनिधित्व को और चुनौती दी। सर्वजनिक और बौद्धिक क्षेत्रों में महिलाओं के आने से भारत में नारीवादी विमर्श में काफी विविधता देखने को मिली।

21वीं सदी की भारतीय महिला एक जटिल और विकासशील पहचान की प्रतीक है। वह सांस्कृतिक विरासत और वैश्विक आधुनिकता दोनों से प्रभावित है। वह पेशेवर रूप से निपुण और आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना जैसी दोहरी उम्मीदों से जूझती है, साथ ही पत्नी, मां और देखभाल करने वाली की पारंपरिक भूमिकाएँ भी निभाती है। यह दोहरा बोझ जिसे "सब कुछ होने" के रूप में सराहा जाता है अक्सर उन संरचना संबंधी असमानताओं को छुपाता है जो महिलाओं की पूर्ण मुक्ति को प्रतिबंधित करती हैं। वहीं वेतन असमानता, संस्थागत सहायता की कमी (जैसे कि चाइल्ड केयर सुविधाएं), और करियर की तुलना में परिवार को प्राथमिकता देने की अपेक्षाओं से शिक्षित शहरी महिलाओं को भी दो चार होना पड़ता है।

इसके अलावा आधुनिकीकरण के लाभ असमान रूप से वितरित होते रहते हैं। भारतीय महिलाओं का एक महत्त्वपूर्ण हिस्से को, विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्रों, हाशिए पर पड़ी जातियों और आदिवासी समुदायों की महिलाओं को निरक्षरता, स्वास्थ्य सेवा तक सीमित पहुँच और अनौपचारिक क्षेत्रों में आर्थिक शोषण का सामना करना पड़ रहा है। हाल के अनुमानों के अनुसार, लगभग 245 मिलियन भारतीय महिलाओं में बुनियादी साक्षरता कौशल की कमी है, और उनमें से कई असुरक्षित और कम वेतन वाले व्यवसायों में काम करती हैं।[27]

21वीं सदी में एक महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक परिवर्तन पारंपरिक स्त्री आदर्शों के पुनर्ग्रहण और पुनर्व्याख्या करने में है। महिलाएँ अब विरासत में मिली भूमिकाओं को चुपचाप अपना नहीं रही हैं, बल्कि निजी और सार्वजनिक दोनों क्षेत्रों में अपनी जगह को फिर से परिभाषित कर रही हैं। उल्लेखनीय है कि अब तक सीता को पारंपरिक रूप से धैर्य और सदाचार की प्रतिमूर्ति के रूप में, या फिर द्रौपदी को अक्सर त्याग के प्रतीक के रूप में चित्रित किया जाता रहा है, लेकिन अब इन्हें नारीवादी दृष्टिकोण से फिर से देखा जा रहा है। उदाहरण के लिए, द्रौपदी को एक ऐसी महिला के रूप में देखा जाता है जिसने सत्ता को चुनौती दी और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाई।[28]

यह सांस्कृतिक पुनर्व्याख्या एक विशिष्ट भारतीय नारीवादी आंदोलन के केंद्र में है। यह परंपरा को पूरी तरह से खारिज नहीं करता बल्कि उसे सुधारने और फिर से एकीकृत करने का प्रयास करता है। करवा चौथ और रक्षाबंधन जैसे पर्व, जिन्हें कभी पितृसत्तात्मक मानदंडों के प्रतीक के रूप में देखा जाता था, उसे अब कुछ महिलाएँ पुरुष-प्रधान समाज द्वारा लादे गए दायित्वों के बजाय प्रेम, विश्वास और सांस्कृतिक निरंतरता की स्वैच्छिक अभिव्यक्ति के रूप में मनाती हैं। कई लोगों के लिए सिंदूर लगाना या साड़ी पहनना मजबूरी की बजाय पसंद का विषय बन गया है, यह परंपरा के भीतर स्वायत्तता का एक सूक्ष्म दावा है।

समकालीन भारत में कानूनी और सामाजिक सक्रियता आधुनिक अधिकारों और पारंपरिक मूल्यों के बीच इस गतिशील तनाव को दर्शाती है। रुडमज्व्व आंदोलन, सबरीमाला मंदिर प्रवेश मामला और लिंग आधारित हिंसा के व्यापक विरोध जैसे अभियानों ने महिलाओं के लिए न्याय और समानता की माँग करने के लिए नए मंच तैयार किए हैं।[29] ये आंदोलन न केवल प्रतिरोध का प्रतीक हैं, बल्कि धार्मिक विश्वदृष्टि के अंतर्गत स्त्री गरिमा की पुष्टि

21वीं सदी की भारतीय महिला एक जटिल और विकासशील पहचान की प्रतीक है। वह सांस्कृतिक विरासत और वैश्विक आधुनिकता दोनों से प्रभावित है। वह पेशेवर रूप से निपुण और आर्थिक रूप से स्वतंत्र होना जैसी दोहरी उम्मीदों से जूझती है, साथ ही पत्नी, मां और देखभाल करने वाली की पारंपरिक भूमिकाएँ भी निभाती है। यह दोहरा बोझ जिसे "सब कुछ होने" के रूप में सराहा जाता है अक्सर उन संरचना संबंधी असमानताओं को छुपाता है जो महिलाओं की पूर्ण मुक्ति को प्रतिबंधित करती हैं। वहीं वेतन असमानता, संस्थागत सहायता की कमी, और करियर की तुलना में परिवार को प्राथमिकता देने की अपेक्षाओं से शिक्षित शहरी महिलाओं को भी दो चार होना पड़ता है

भी करते हैं, साथ ही यह सुझाव देते हैं कि भारतीयता और नारीवाद में विरोधाभास नहीं होना चाहिए।

निष्कर्ष

भारतीयता के ढाँचे के भीतर स्त्रीतत्व (नारीत्व का सार) पर चर्चा एक समृद्ध, जटिल और विकसित होती कहानी को सामने लाती है जो परंपरा बनाम आधुनिकता के सरलीकृत द्वंद्वों से परे है। ऋग्वैदिक काल में महिलाओं की प्रतिष्ठित स्थिति से लेकर बाद के ऐतिहासिक आक्रमणों और औपनिवेशिक शासन के दौरान लगाए गए प्रतिबंधों तक, भारत में स्त्री पहचान सांस्कृतिक, धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक शक्तियों के गतिशील अंतर्क्रिया द्वारा आकार लिया है।

इस शोध में इस बात को जानने का प्रयास किया गया है कि भारतीय महिलाएँ जो ऐतिहासिक रूप से बुद्धिजीवी, योद्धा और आध्यात्मिक साधक के रूप में सम्मानित थीं उन्हें किस प्रकार धर्म की पितृसत्तात्मक व्याख्याओं, विदेशी प्रभाव और कठोर सामाजिक रीति-रिवाजों के तहत धीरे-धीरे हाशिये पर धकेल दिया गया। फिर भी हाशिए पर होने के बावजूद, भारतीय महिलाओं ने सुधार आंदोलनों, शिक्षा और प्रतिरोध के माध्यम से लगातार अपनी स्वतंत्रता हासिल की और सामाजिक परिवर्तन में योगदान दिया।. स्वतंत्रता के बाद के युग में और विशेष रूप से 21वीं सदी में भारतीय महिला सभ्यतागत मूल्यों में निहित एक अनोखे संगम पर खड़ी है, फिर भी वह अपनी आकांक्षाओं में आगे की ओर देख रही है। भारतीय संदर्भ में नारीवाद केवल पश्चिमी प्रतिमानों का अनुकरण करने का प्रयास नहीं करता है, बल्कि स्वदेशी दृष्टिकोण से परंपरा की पुनर्व्याख्या करने का प्रयास करता है।

इस प्रकार, भारतीयता में स्त्रीतत्व स्थिर नहीं है, यह एक जीवंत विमर्श है। इस विमर्श में महिलाओं की आध्यात्मिक, बौद्धिक, भावनात्मक और सामाजिक भूमिकाएँ शामिल हैं। और इसे प्रत्येक पीढ़ी द्वारा लगातार पुनर्परिभाषित किया जाता है। आगे की राह समावेशी सशक्तीकरण, अंतर-संबंधी जागरूकता और गरिमा की पुन: पुष्टि पर केंद्रित होना चाहिए ताकि परंपरा को परिवर्तनकारी परिवर्तन के साथ सामंजस्य स्थापित करने में मुश्किल न हो। ऐसा करते हुए भारतीय नारी अपनी जड़ों को नहीं छोड़ती; वह उन्हें मजबूत करती है, एक ऐसा भविष्य गढ़ती है जो विरासत और राष्ट्र के भाग्य के एक समान निर्माता के रूप में उसके उचित स्थान दोनों का सम्मान करता है।

संदर्भ-

1. बी.पी. सिन्हा - एवलूशन ऑफ शक्ति वर्कशिप इन इंडिया, डी.सी. सरकार संपादित, द शक्ति कल्ट एंड तारा, कलकत्ता यूनिवर्सिटी, 1960, पृ.: 47,48,49
2. पूर्वोक्त, पृ. 50
3. शिव स्तोत्र,1
4. नरेंद्र नाथ भट्टाचार्य - "उद्धृत कार्य", पृ. 31
5. आर.सी. हाजरा - स्टडीज इन उपपुराणस, खंड II, संस्कृत कॉलेज, कलकत्ता, 1963, पृ. 17
6. मूर्ति, एस. (2018)। द डॉटर फ्राम ए विशिंग ट्री: द अन्यूश़वल टेल्स एबाउट वूमेन इन माइथोलॉजी
7. विशाल: कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जित:। उपाचार्य: स्त्रीया साध्व्य सततं देववत् पति:।। (मनुस्मृति-5-154)
8. यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता:। यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफला: क्रिया:।। (मनुस्मृति-3-56)
9. केन पी.वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खंड। मैं I, तीसरा संस्करण, पुनर्मुद्रण 1990, बीओआरआई, पुणे, 2006
10. केन पी.वी., हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, खंड I, तीसरा संस्करण, 1990, बीओआरआई, पुणे, 1993, पुनर्मुद्रण, 2012
11. दिनकर जी.बी., संक्षिप्ता याज्ञवल्क्य स्मृति, 1854, पुणे
12. आचार्य, बी.सी. (2011)। ए हैंडबुक ऑफ वूमेन राइट्स, दिल्ली
13. बसु, ए. (2014)। रोल एंड स्टेट्स ऑफ वूमेन इन ऐन्शन्ट इंडिया। इम्पोर्टेन्ट इंडिया में ऑनलाइन प्रकाशित।
14. बनर्जी, टी. (2016)। हिअर इज हाउ द स्टेट्स ऑफ वूमेन हैज चेंज्ड इन इंडिया [1950 से लेकर आज तक]। यूथ की आवाज, 6
15. मिडीवल इंडिया: वूमेन्स "डार्क एज"।(2010)। https://wewomen.wordpress.com/2010/03/04/medievel-india-womens-dark-age से 07/12/2017 को लिया गया
16. स्मृति, एम. (1886)। विद सिक्स कमेन्ट्रीज, बॉम्बे
17. स्टेनली, एस., एंड कुमारी, एस. (2010)। पोजिशन ऑफ वूमेन इन कॉलोनियल इरा, इंटरनेशनल जर्नल ऑफ एजुकेशनल रिसर्च एंड टेक्नोलॉजी, 1(2), 109-111
18. पूर्वोक्त
19. जोन्स, के.डब्ल्यू. (1989)। सोशियो रिलीजियस रिफार्म मूवमेंट्स इन ब्रिटिश इंडिया (खंड 1)। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
20. हेम्सथ, सी.एच. (1964)। इंडियन नेशनलिज्म एंड हिंदू सोशल रिफार्म, बॉम्बे।
21. काकर, एस. (1991)। द इनर वर्ल्ड: ए साइको -एनालिटिक स्टडी ऑफ चाइल्ड एंड सोसायटी इन इंडिया, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
22. नारायणन, वी. (1998)। द वरनाकुलर वेद: रिवीलेशन, रेसिटेशन एंड रिचुअल। यूनिवर्सिटी ऑफ साउथ कैरोलिना प्रेस।
23. फोर्ब्स, जी. (1996)। वूमेन इन मार्डन इंडिया। कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
24. मेनन, एन. (2004)। रिकवरिंग सबवर्सन: फेमिनिस्ट पॉलिटिक्स बियोंड द लॉ। यूनिवर्सिटी ऑफ इलिनोइस प्रेस।
25. यूनिसेफ, 2007। द स्टेट ऑफ द वर्ल्ड चिल्ड्रेंन 2007: वूमेन एंड चिल्ड्रेंन - द डबल डिविडेंड ऑफ जेंडर इक्वलिटी
26. गवर्न्मेंट ऑफ इंडिया, 2005. सर्व शिक्षा अभियान - ए प्रोग्राम फॉर यूनिवर्सल एलिमेंटरी एजुकेशन।
27. इंटरनेशनल लेबर आर्गेनाइजेशन (ILO)। (2022)। वर्ल्ड एम्पालमेंट एंड सोशल आउटलुक - ट्रेंड्स फॉर वूमेन 2022।
28. चटर्जी, पी. (1990)। द नेशनलिस्ट रिसोल्यूशन ऑफ द वूमेन्स क्वेशचन
29. सेन, आर. (2016)। जेंडर एंड रिलीजियस प्रैक्टिसेज इन इंडिया। इकोनॉमिक एंड पॉलिटिकल वीकली।

भारतीय कालगणना की सार्वभौमिकता व खगोलशुद्धता

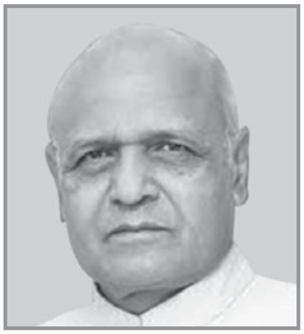

प्रो. भगवती प्रकाश शर्मा

डॉ. जया शर्मा

समय की सूक्ष्मतम से लेकर महत्तम इकाई तक भारतीय कालगणना में है और यह सौरमंडल की गतियों के भी सर्वथा अनुकूल है। एक निरूपण

भारतीय काल गणना, काल के शाश्वत स्वरूप की पहचान कर इसके आदि व अंत से निरपेक्ष रह कर समय की गणना प्रस्तुत करती है। कालमान की सबसे छोटी इकाई परमाणु, समय की सूक्ष्मतम इकाई है और कल्प व मन्वंतर जैसी काल की महाविशाल इकाइयों का निरूपण भी भारतीय कालगणना का ही अभिन्न अंग है। इन सबके ऊपर सार्वभौम संदर्भ योग्य तिथियों की पद्धति भी भारतीय काल गणना का विलक्षण व उत्कृष्ट प्रारूप है।

विश्व में प्रचलित विविध काल गणनाओं में भारतीय तिथियाँ ही सार्वभौम संदर्भ योग्य दिनक्रम प्रदान करती हैं। इन तिथियों का आरंभ व समाप्ति काल पृथ्वी पर सभी स्थानों पर एक समान होने से उनका सार्वभौम संदर्भ सरलतापूर्वक दिया जा सकता है। दूसरी ओर अंग्रेजी तारीखें मध्य रात्रि से बदलती हैं और मध्य रात्रि का समय भिन्न-भिन्न स्थानों पर अलग-अलग होता है जिसमें 24 घंटे तक का अंतर आ जाता है। उदाहरणत: भारत व अमेरिका में मध्य रात्रि में साढ़े बारह घंटे तक का अंतर होने पर भी हिंदू तिथियों में परिवर्तन तो एक ही समय होता है। लेकिन तारीख बदलने के समय में सदैव 12 घंटे 30 मिनट तक का अंतर आ जाता है और अंतरराष्ट्रीय तारीख रेखा अर्थात इंटरनेशनल डेटलाइन के पूर्व एवं पश्चिम में तो तारीखों में सदैव ही एक दिन अंतर रहता है। पृथ्वी पर न्यूजीलैंड में मध्यरात्रि सबसे पहले प्रारंभ होने से अंग्रेजी तिथि से नववर्ष का समारोह सर्वप्रथम वहीं प्रारंभ होता है। लेकिन अंतरराष्ट्रीय दिनांक रेखा की उल्टी दिशा में कुक द्वीप पर जाकर 23 घंटे बाद पुन: नववर्ष की पूर्वसंध्या मना सकते हैं। इसी प्रकार समोआ व अमेरिकी समोआ एक दूसरे से मात्र 165 किमी दूरी पर हैं। लेकिन, समोआ विश्व में सबसे पहले नववर्ष मनाता है और उससे 165 किमी दूर अमेरिकी समोआ में एक दिन बाद जनवरी 1 को नववर्ष मनाया जाता है।

भारतीय तिथियों की दृष्टि से यदि अभी ईस्वी सन् 2025 के हिंदू नववर्ष के प्रथम दिन का ही विचार करें अर्थात नव वर्ष या नव संवत्सर को रविवार 30 मार्च 2025 को मनाया गया। उसके पूर्ववर्ती दिन 29 मार्च को दिन में सायं 4.27 बजे तक अमावस्या समाप्त हो कर प्रतिपदा तिथि का प्रवेश हो जाएगा। इस समय पृथ्वी पर चाहे कहीं रात्रि हो या दिन अथवा चाहे वहाँ प्रात:काल हो या सायंकाल, चैत्र शुल्क प्रतिपदा सभी स्थानो पर उस एक ही समय पर एक साथ प्रारंभ हुई थी। इस क्रम में 30 मार्च 2025 को दिन में 12.49 बजे चाहे कहीं दिन हो या रात अथवा प्रभात हो या सायंकाल, उस एक ही समय पर प्रतिपदा समाप्त हो कर द्वितीय तिथि एक साथ ही प्रारंभ हुई थी। इस प्रकार 29 मार्च को सायं 4.27 तक अमावस्या होने व उसके बाद से दूसरे दिन 30 मार्च को दोपहर 12:49 तक प्रतिपदा या एकम अर्थात पहली तिथि रही थी इसलिए नववर्ष आरंभ 30 मार्च को हुआ। उसी दिन 2 अप्रैल को वर्ष प्रतिपदा व नवरात्र का प्रारंभ माना गया था।

'समूह अध्यक्ष (आयोजना व नियंत्रण) पेसिफिक विश्व विद्यालय समूह
"सह आचार्य, प्रबन्ध संकाय, पेसिफिक ऐकेडमी ऑफ हायर एजूकेशन एण्ड रिसर्च यूनिवर्सिटी

तदुपरांत 31 मार्च को द्वितीया तिथि होगी। उस दिन द्वितीया तिथि प्रात: 9:11 बजे तक रही। उसके बाद तृतीया तिथि लग गई। इस प्रकार इन तिथियों के उपरोक्त प्रारंभ व समाप्तिकाल संपूर्ण

भूमंडल पर समसामयिक होने से समय का संदर्भ तिथि प्रवेश के उपरांत के व्यतीत समय अवधि के रूप में दिए जाने पर वह सार्वभौम संदर्भ होगा अर्थात प्रतिपदा तिथि प्रवेश के 2 घंटे उपरांत संदर्भ देने पर वह सार्वभौम होगा, चाहे उस समय किसी भी देश या देशांतर रेखा पर दिन हो या रात अथवा प्रभात हो या सायंकाल। दूसरी ओर यदि अंग्रेजी तारीख को संदर्भित कर यह लिखा जाए कि मार्च 31, 2025 को भारतीय समयानुसार प्रातः 7 बजे, तो उस समय अमरीका में 30 मार्च सायंकाल 6:30 बजे का समय होगा, इंग्लैंड में 30 मार्च का मध्य रात्रि 1:30 का समय होगा। बेकर द्वीप पर 30 मार्च का मध्यान्ह 1:30 का समय व थाइलैंड में 31 मार्च का प्रात:10:30 बजे का संदर्भ आएगा। यह अत्यंत उलझाने वाला होता है।

हिंदू काल गणना की ये तिथियाँ, सूर्य व चंद्रमा के बीच प्रति 12° कोणीय दूरी बढ़ने या घटने पर एक-एक कर बदलती हैं। पृथ्वी पर कहीं से भी चंद्रमा व सूर्य के बीच की कोणीय या चापीय दूरी नापी जाए, वह सदैव एक समान ही दिखलाई देती है या नापने में एक सामान ही आती है। अतएव संपूर्ण भू-मंडल पर प्रत्येक हिंदू तिथि एक साथ या एक ही समय परिवर्तित होती है। दूसरी ओर चंद्रोदय में भी स्थान भेद से एक दिन तक का अंतर होने से अरब हिजरी तिथियों में भी विविध स्थानों की तिथियों व पर्वों या त्योहारों में एक दिन तक का अंतर आ जाता है। हिंदू गणनाओं के अंतर्गत संपूर्ण भू-मंडल पर अमावस्या का आरंभ व अंत एक ही समय होता है, उसमे 1 मिनट का भी अंतर स्थान भेदवश नहीं आता है। तिथियों में अमावस्या को सूर्य व चंद्रमा एक ही रेखांश पर होते है। वहाँ से उनके (सूर्य व चंद्र के) बीच कोणीय अंतर 12° तक होने तक शुक्ल प्रतिपदा रहती है व 12° से 24° का अंतर होने तक द्वितीया, 24° से 36° की कोणीय दूरी होने तक तृतीया व इसी प्रकार 168°-180° के बीच पूर्णिमा व उसके बाद 180°-192° तक कृष्ण प्रतिपदा होगी। पृथ्वी से सूर्य व चंद्र की दूरी इतनी अधिक है कि सूर्य व चंद्रमा के बीच की कोणीय दूरी कहीं से भी नापने पर वह एक समान ही दिखाई देती है।

भारतीय काल गणना में मासों की रचना व नामकरण भी, वर्ष भर में आने वाली 12 पूर्णिमाओं के नक्षत्रों को दृष्टिगत रखकर पूर्ण वैज्ञानिकता के आधार पर किया गया है। यथा चित्रा नक्षत्र में पूर्णिमा वाले मास का नामकरण चैत्र, विशाखा नक्षत्र में पूर्णिमा आने वाले मास का नाम वैशाख, ज्येष्ठा नक्षत्र में पूर्णिमा वाले मास का नाम ज्येष्ठ, उत्तराषाढ़ा में पूर्णिमा आने वाले मास का नाम आषाढ़, श्रवण नक्षत्र में पूर्णिमा आने पर श्रावण, अश्विनी में पूर्णिमा आने पर अश्विन और इसी प्रकार फाल्गुन पर्यंत बारह मासों के नाम उन मासों कि पूर्णिमा के नक्षत्र के अनुसार निर्धारित किए गए है।

आंग्ल या अंग्रेजी मासों पर विचार करें तो 450 ईसा पूर्व तक रोमन कैलेंडर में 10 महीने ही होते थे। इसके बाद जनवरी व फरवरी 2 माह जोड़े गए थे। सम्राट ज्यूलियस सीजर ने एक मास का नाम अपने नाम पर जुलाई कर दिया तो उसके भतीजे तो उसके भतीजे अगस्टस ने सम्राट बनने पर श्सेक्सटिनिलश् नामक आठवें मास का नाम अपने नाम पर अगस्त कर लिया था। जुलाई में 31 दिन होते थे तो उसने भी यह सोचकर कि "मैं किसी से कम नहीं" के भाव से अगस्त मे भी 30 के स्थान पर 31 दिन करवा दिए। इसके लिए फरवरी में तब 29 दिन होते थे, वे घटा कर 28 करवा दिए। रोमन सम्राट क्लाडियस ने भी मई का नाम परिवर्तन करा कर अपने नाम पर क्लाडियस और नीरो ने अप्रैल मास का नाम अपने नाम पर नीरोनियस भी करवा लिया था। लेकिन, ये नाम अधिक दिन नहीं चल पाए और वापस अप्रैल व मई के नाम से ही संबोधित किए जाने लगे।

हिंदू मासों के नाम के प्रणेता ऋषियों ने इन सभी मासों के नाम खगोलीय संयोगों के अनुरूप चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद आदि भी इन सभी मासों की पूर्णिमाओं की नक्षत्रों की अनुसार 5000 वर्ष पूर्व तब ही किए, जब इन महीनों की पूर्णिमाएँ इन नक्षत्रों में आने लगी थीं। वस्तुतः प्रति

अयन चलन वस्तुतः पृथ्वी के घूर्णन की धुरी में, विविध ग्रहों के आकर्षण के कारण आने वाला लघु वृत्ताकार विचलन है, और इसी कारण प्रतिवर्ष बसंत संपात कुछ विकलाओं में पीछे सरकता जाता है। अयन चलन के कारण ही निरयन ग्रह गणनाओं में मकर संक्रांति 22 दिसंबर से 14 जनवरी तक आगे बढ़ गई है और उसके बाद 15,16 व 17 जनवरी इसी क्रम में आगे बढ़ती जाएगी। पाश्चात्य खगोलज्ञ आरंभ में अयन चलन से अनभिज्ञ थे। लेकिन, उन्होंने अब मान लिया है कि अयन चलन होता है व भारतीयों द्वारा प्रयुक्त अयन चलन का मान खगोल शुद्ध है। इस अयन चलन के कारण जब ये पूर्णिमाएँ चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा आदि मासों में आने लगीं तब ही इस खगोलीय क्रम के अनुसार विद्वान ऋषियों ने खगोलीय घटना चक्र के अनुरूप मासों का चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आदि नामकरण किया है

25,765 वर्षों में अयन चलन की एक आवृत्ति पूरी होती है। अयन चलन वस्तुतः पृथ्वी के घूर्णन की धुरी में, विविध ग्रहों के आकर्षण के कारण आने वाला लघु वृत्ताकार विचलन है, और इसी कारण प्रतिवर्ष बसंत संपात कुछ विकलाओं में पीछे सरकता जाता है। अयन चलन के कारण ही निरयन ग्रह गणनाओं में मकर संक्रांति 22 दिसंबर से 14 जनवरी तक आगे बढ़ गई है और उसके बाद 15,16 व 17 जनवरी इसी क्रम में आगे बढ़ती जाएगी। पाश्चात्य खगोलज्ञ आरंभ में अयन चलन से अनभिज्ञ थे। लेकिन, उन्होंने अब मान लिया है कि अयन चलन होता है व भारतीयों द्वारा प्रयुक्त अयन चलन का मान खगोल शुद्ध है। इस अयन चलन के कारण जब ये पूर्णिमाएँ चित्रा, विशाखा, ज्येष्ठा आदि मासों में आने लगीं तब ही इस खगोलीय क्रम के अनुसार विद्वान ऋषियों ने खगोलीय घटना चक्र के अनुरूप मासों का चैत्र, वैशाख, ज्येष्ठ, आदि नामकरण किया है। इससे पूर्व वैदिक काल में चैत्र, वैशाख आदि मासों के नाम मधु, माधव, शुक्र, नभ, नभस्य, ईश, ऊर्जा, सह, सहस्य, तप, तपस्या, आदि प्रचलित थे। इसीलिए प्राचीन यजुर्वेद वाजसनेयी संहिता और तैत्तिरीय संहिता आदि में मासों के यही नाम मधु माधव आदि मिलते हैं। यही कारण है कि रामचरित मानस में भी चैत्र मास में राम नवमी के दिन भगवन राम के जन्म के मास का नाम 'मधु' मास लिखा है यथा "नौमी तिथि मधुमास पुनीता। शुक्ल पच्छ अभिजित हरि प्रीता" इस चौपाई में चैत्र मास के स्थान पर वैदिक कालीन व रामायण कालीन मास का नाम 'मधु मास' लिखा है। रामायण काल पर विचार करें तो वह कालखंड त्रेतायुग का था। युगों की कालावधि लाखों व करोड़ों वर्षों को समा लेती है। चारों युग (सतयुग, त्रेता, द्वापर व कलियुग) को मिलाकर 43 लाख 20 हजार वर्ष का एक चतुर्युगी का मान होता है। इसे महायुग भी कहते हैं। एक महायुग में 12,000 दिव्य वर्ष होते हैं। भारतीय काल गणना की सूक्ष्मतम इकाई परमाणु से मन्वंतर व कल्प तक के सापेक्ष विस्तार को निम्न तालिका में स्पष्ट किया जा रहा है।

भारतीय काल गणना में सूक्ष्मतम इकाई परमाणु होती है। एक पलक झपकने में 32,400 परमाणु होते हैं। ब्रह्मा की आयु सबसे बड़ी ईकाई कही जा सकती है। इसमें 31 नील 10 खरब 40 अरब वर्ष (31,30,40,00,00,00,000) होते हैं। इस सूक्ष्म परमाणु काल से ब्रह्मा जी की आयु के मान को निम्न सारणी से समझा जा सकता है।

1 परमाणु = काल की सबसे सूक्ष्मतम अवस्था
2 परमाणु = 1 अणु
3 अणु = 1 त्रसरेणु
3 त्रसरेणु = 1 त्रुटि
10 त्रुटि = 1 प्राण
10 प्राण = 1 वेध
3 वेध = 1 लव या 60 रेणु
3 लव = 1 निमेष
1 निमेष = 1 पलक झपकने का समय
2 निमेष = 1 विपल (60 विपल एक पल होता है)
3 निमेष = 1 क्षण
5 निमेष = 2 सही 1 बटा 2 त्रुटि
2 सही 1 बटा 2 त्रुटि = 1 सेकंड या 1 लीक्षक से कुछ कम।
20 निमेष = 10 विपल, एक प्राण या 4 सेकंड
5 क्षण = 1 काष्ठा
15 काष्ठा = 1 दंड, 1 लघु, 1 नाड़ी या 24 मिनट
2 दंड = 1 मुहूर्त
15 लघु = 1 घटी=1 नाड़ी
1 घटी = 24 मिनट, 60 पल या एक नाड़ी
3 मुहूर्त = 1 प्रहर
2 घटी = 1 मुहूर्त= 48 मिनट
1 प्रहर = 1 याम
60 घटी = 1 अहोरात्र (दिन-रात)
15 दिन-रात = 1 पक्ष
2 पक्ष = 1 मास (पितरों का एक दिन-रात)
कृष्ण पक्ष = पितरों का एक दिन और शुक्ल पक्ष = पितरों की एक रात।
2 मास = 1 ऋतु
3 ऋतु = 6 मास
6 मास = 1 अयन (देवताओं का एक दिन-रात)
2 अयन = 1 वर्ष
उत्तरायन = देवताओं का दिन और दक्षिणायन = देवताओं की रात।
मानवों का एक वर्ष = देवताओं का एक दिन जिसे दिव्य दिन कहते हैं।
1 वर्ष = 1 संवत्सर=1 अब्द
10 अब्द = 1 दशाब्द
100 अब्द = शताब्द
360 वर्ष = 1 दिव्य वर्ष अर्थात देवताओं का 1 वर्ष।
12,000 दिव्य वर्ष = एक महायुग (चारों युगों को मिलाकर एक महायुग)
सतयुग: 4000 देवता वर्ष (सत्रह लाख अट्ठाईस हजार मानव वर्ष)
त्रेतायुग: 3000 देवता वर्ष (बारह लाख छियानवे हजार मानव वर्ष)
द्वापरयुग: 2000 देवता वर्ष (आठ लाख चौसठ हजार मानव वर्ष)

कलियुग: 1000 देवता वर्ष (चार लाख ब्तीसहजतार मानव वर्ष)
71 महायुग = 1 मन्वंतर (लगभग 30,84,48,000 मानव वर्ष बाद प्रलय काल)
चौदह मन्वंतर = एक कल्प।

एक कल्प = ब्रह्मा का एक दिन। (ब्रह्मा का एक दिन बीतने के बाद महाप्रलय होती है और फिर इतनी ही लंबी रात्रि होती है)। इस दिन और रात्रि के आकलन से उनकी आयु 100 वर्ष होती है। उनकी आधी आयु निकल चुकी है और शेष में से यह प्रथम कल्प है। ब्रह्मा का वर्ष यानी 31 खरब 10 अरब 40 करोड़ वर्ष। ब्रह्मा की 100 वर्ष की आयु अथवा ब्रह्मांड की आयु- 31 नील 10 खरब 40 अरब वर्ष (31,10,40,00,00,00,000 वर्ष)

युगों के मान की प्रामाणिकता का विवेचन करें तों रामायण काल के त्रेतायुग का उदाहरण ग्रहण किया जा सकता है।

पुन: हिंदू काल गणना की लौकिक वैज्ञानिकता पर आते हुए यदि मासों व वर्ष मान पर विचार करे तो चंद्र मासों के साथ-साथ हमारे प्राचीन ऋषियों ने राशियों के नाम पर सौर मासों यथा संक्रांति से संक्रांति पर्यन्त राशि, कला व विकला में सौर मास व मास के दिनक्रम के अंतर्गत 24-24 मिनट की घटियों तक के समय तक का अंकन एक साथ करने की जो परंपरा विकसित की थी वह आज सौर वर्ष का ऋतुचक्र से समायोजन की अंग्रेजी दिनांक से भी अधिक व्यवस्थित व सुक्ष्म पद्धति रही है। यह अंकन आज भी पंचांगों व जन्म पत्रिकाओं में महादशा व अंतर्दशा के आरंभ व समाप्ति काल को इंगित करने हेतु किया जाता है। पुनरू इन सौर मासों से चंद्र मासों का संतुलन करने के साथ-साथ करोड़ों वर्ष बाद भी चंद्र मासों का ऋतु चक्र से कुसमायोजन या पृथक्करण नहीं हो जाए, इस हेतु संक्रांति रहित मास को 'अधिक -मास' की संज्ञा देकर प्रति तीन वर्ष में एक अधिक मास का प्रावधान कर दिया। इससे हमारे सभी पर्व और त्यौहार एवं वर्षो का प्रारंभ करोड़ों वर्षों से सदैव उसी ऋतु में होता रहा है व आगे भी होता रहेगा। अरब हिजरी वर्ष मान भी 354 दिन का ही होने से प्रति तीन वर्ष में हिजरी नववर्ष व सभी त्यौहार लगभग, एक माह आगे बढ़ जाते है और 9 वर्ष में एक ऋतु से दूसरी ऋतु में चले जाते हैं। इस प्रकार 1400 सौर वर्षो में हिजरी वर्ष 1442 समा गये हैं।

पृथ्वी जिस गति सूर्य की परिक्रमा करती है, उसकी सटीक परिभ्रमण गति को भी पृथ्वी की दैनिन्दिन गति के रूप में आर्यभट्ट ने 2000 वर्ष पूर्व ही आर्यभट्टीय में दे दिया था। अर्थात प्राचीन काल से ही भारतीयों को यह ज्ञान था की पृथ्वी सूर्य की परिक्रमा करती है। पृथ्वी की गति के सम्बन्ध में ऐतरेय ब्राह्मण में भी लिखा है कि सूर्य न उदित होता है और न अस्त होता है। सूर्य पृथ्वी के एक भाग को आलोकित करता है, तब दूसरे में व जब दूसरे को आलोकित करता है, तब पहले में अन्धकार होता हैं। यही नहीं पुराणों में वर्णित प्रमुख पाँच विषयों सर्ग (सृष्टि) प्रति सर्ग (प्रलय) आदि में सर्ग या सृष्टि खंड में यह भी वर्णन आता है कि सूर्य भी एक महा सूर्य की परिक्रमा 49 हजार योजन प्रति-घटी की गति से कर रहा है। आधुनिक खगोलवेत्ताओं के अनुसार, सूर्य हमारी इस आकाश गंगा में एक अति शक्तिशाली कृष्ण विवर (ब्लैक होल) की लगभग 7.45 लाख किमी. प्रति घंटा की गति से परिक्रमा कर रहा है और 21 करोड़ 60 लाख वर्ष में वह उसकी एक परिक्रमा पूरी करता है। इतनी अवधि में 50 चतुर्युगिया व्यतीत हो जाती हैं। हमारी पौराणिक काल गणनाओं के अनुसार 43.20 लाख वर्ष में एक चतुर्युगी पूरी होती हैं, जिसमें 4.32 लाख वर्ष का कलयुग, 8.64 लाख वर्ष का द्वापर, 12.96 लाख वर्ष का त्रेता और 17. 28 लाख वर्ष का सतयुग होता हैं। इकहत्तर चतुर्युगियों का एक मन्वन्तर और 14 मन्वन्तर अर्थात 1000 चतुर्युगियो का ब्रह्मा जी का एक दिन, ऐसे 360 दिन का ब्रह्मा जी का एक वर्ष व 100 वर्ष की एक ब्रम्हा जी की आयु होती है। एक ब्रम्हा के बाद दूसरे ब्रह्मा जन्म लेते है व सृष्टिक्रम चलता रहता है। इस क्रम में हमारी आकाश गंगा की, इस सृस्टि के ब्रम्हा जी के 50वें वर्ष के श्वेत्वाराह कल्प के वैवस्वत मन्वन्तर का 28वां कलयुग चल रहा है। तदनुसार हमारी इस आकाशगंगा की वर्तमान सृष्टि से युक्त यह 195,58,85,115वां वर्ष पूर्ण हो गया।

हमारे पुराणों के अनुसार हमारी इस सृष्टि से युक्त यह जो आकाशगंगा अर्थात तारा मंडल हमें दिखायी देता है वैसे असंख्य तारा मंडल या आकाश-गंगाये अनंत ब्रमांड में विस्तीर्ण हैं। देवी भगवत में आध्या शक्ति द्वारा त्रिदेवो को या रामायण में भगवन राम द्वारा काकभुशुण्डि को मन की गति से भ्रमण कराते हुये एक के बाद एक जिन आकाशगंगाओ का कही अंत नहीं होने के दिग्दर्शन का वर्णन किया गया है। इन वृत्तांतों की अब वैज्ञानिक पुष्टि हो रही है की ब्रम्हांड में 20 खरब से अधिक आकाशगंगाये हैं, एक आकाशगंगा का विस्तार लगभग 1,00,000 प्रकाश वर्ष है या उससे भी अधिक हैं। इस प्रकार पूरे ब्रह्माण्ड के विस्तार का भी सटीक वर्णन पुराणों में किया है। तदनुसार यह ब्रह्माण्ड व काल अनन्त हैं।

पुन: हिंदू काल गणना की लौकिक वैज्ञानिकता पर आते हुए यदि मासों व वर्ष मान पर विचार करे तो चंद्र मासों के साथ-साथ हमारे प्राचीन ऋषियों ने राशियों के नाम पर सौर मासों यथा संक्रांति से संक्रांति पर्यन्त राशि, कला व विकला में सौर मास व मास के दिनक्रम के अंतर्गत 24-24 मिनट की घटियों तक के समय तक का अंकन एक साथ करने की जो परंपरा विकसित की थी वह आज सौर वर्ष का ऋतुचक्र से समायोजन की अंग्रेजी दिनांक से भी अधिक व्यवस्थित व सुक्ष्म पद्धति रही है। यह अंकन आज भी पंचांगों व जन्म पत्रिकाओं में महादशा व अंतर्दशा के आरंभ व समाप्ति काल को इंगित करने हेतु किया जाता है

आचार्य (डॉ.) चंदन कुमार

भारतबोध का लीलालोक

यह लेख भारतबोध के लीला लोक पर केंद्रित है। जैसा कि विषय से ज्ञात है, इस पदावली में दो विचार-संदर्भ बन रहे हैं। पहला भारतबोध, दूसरा लीला। सबसे पहले यह जिज्ञासा कि भारतबोध क्या है? भारत क्या है? भारतभाव क्या है? आइडिया ऑफ इंडिया क्या है? भारत दार-उल-हर्ब है? इस दार-उल-हर्ब को क्या दार-उल- इस्लाम में बदलना है? दार-उल-हर्ब समझ रहे हैं?- काफिरों और बुतपरस्तों की भूमि। युद्ध की भूमि, यह इंडिया दैट ईज भारत है? यह शब्द आपके संविधान का है या इसकी पहचान समाजवादी पंथनिरपेक्ष गणराज्य वाली है? क्या भारत नेशन है? क्या भारत को नेशन स्टेट की शब्दावली में समझा जा सकता है? जब आप नेशन स्टेट की शब्दावली में भारत को समझने की कोशिश करेंगे, तो क्या आप इस तथ्य की उपेक्षा कर पाएंगे कि लगभग दो सौ वर्षों तक पश्चिम का इतिहास नेशन स्टेट का रक्तरंजित दौर है?

लीला क्या है? लीला लोक क्या है? भारतबोध का लीला लोक क्या है? लीला और कला के माध्यम से हमारा समाज और हमारे लोगों ने भारतबोध को कैसे संजोया है? सनातन, लीला, कला और भारत के बीच के संबंध को कैसे पढ़ा जाए? क्या भारत की सातत्यता के सूत्र सनातन की सातत्यता के पाठ से गुंफित हैं? प्रश्न यह भी है कि इस सनातन की सातत्यता को हम पढ़ें कैसे? सत्य यह है कि लीला, कला और धर्मभाव की यह सातत्यता ही भारतबोध है। इस भारतबोध को जिन तत्त्वों ने संभव किया, वे संत हैं, कवि हैं, मठ और सत्र हैं, मंदिर और नामघर हैं, संस्कृत है। गुरु, वैद्य और पुरोहित की सामाजिक वैधता भारत होने को संभव करती है। भारत राजनैतिक, भौगोलिक, प्रशासनिक इकाई होने से पूर्व एक सांस्कृतिक अवधारणा है। हमारा राष्ट्र हमारे सांस्कृतिक बोध की निष्पत्ति है। सत्य, अहिंसा, परोपकार, क्षमा जैसे गुणों के साथ यह राष्ट्र ज्ञान में रत रहा है, इसलिए यह ३भा-रत३ है। भारतबोध को इन्हीं भक्ति, सत्य, अहिंसा, परोपकार, क्षमा, कला और लीला के उत्तराधिकारी के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। भारत की आत्मा सनातन है। भारतबोध एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है। यह विशिष्ट आध्यात्मिक गुण भारतीय को सारे संसार से पृथक करता है। भारत लीला की भूमि रही है। लीलाधर ने यहाँ कुरुक्षेत्र में गीता का उपदेश दिया है। भारतबोध को लीला के परिप्रेक्ष्य में समझना ही भारतभाव को समझना है, भारत के लोगों को समझना है, भारत के समाज को जानना है।

पर्यटन, तीर्थाटन, यात्रा और परोपकार भारत होने के बोध को सुनिश्चित करते हैं। "हमारा राष्ट्र राजनैतिक नहीं, सांस्कृतिक अवधारणा से बना है। सत्य, अहिंसा, परोपकार, क्षमा जैसे गुणों के साथ यह राष्ट्र ज्ञान में रत रहा है, इसलिए यह 'भा-रत' है।"[1] कुल मिलाकर भारत जीवन का वैष्णव भाव है। भारतीयता से एक विशेष भावबोध होता है। यह हर भारतीय की अपनी मातृभूमि और पुण्यभूमि है। प्रत्येक भारतीय इसके इतिहास से खुद को जोड़ता है, जो इसके सुख-दुख और आशा-निराशा के साथ जय में खुश और पराजय में दुखी होता है। भारत को यह भाव वैष्णव दाय में मिला है। यह वैष्णवभाव सातत्यता है। सातत्यता सनातन है। यह सनातनता गाँधी का वैष्णव जन है, यही

बर्बरता ने जब सभ्यताओं के ज्ञान के भौतिक भंडार नष्ट कर डाले तो उसे अक्षुण्ण बनाए रखने का बीड़ा उठाया लीला, कला और साहित्य ने। भारत का केंद्रीय बोध लीलाओं के इसी लोक में है

श्रीमंत शंकर देव का 'प्रथम प्रणामे, ब्रह्मरूपी सनातन' है। यही कालिदास के मेघ की यात्रा है। कालिदासकृत मेघदूतम में पूर्व मेघ यक्ष बादल को रामगिरी से अलकापुरी तक के रास्ते का विवरण देता है - उत्तर-पूर्व के हिमालय से लेकर उत्तर-पश्चिम तक के हिमालय की यात्रा। आर्य सप्त-सैंधव की परिकल्पना इसी भारतभाव की परिकल्पना है। भारत अध्यात्म और चेतना की भूमि है। दुनिया के तमाम विचारों की सांस्कृतिक चेतना जड़वादी है, जबकि भारत की चेतना जैविक है। इसलिए भारत आज भी भारत है, क्योंकि वह जड़ और हठी नहीं है। तमिल कवि सुब्रमण्यम भारती द्वारा शिवाजी पर कविता लिखना, सुदूर उत्तर-पूर्व की कार्बी आंगलोंग समुदाय द्वारा रामकथा का छाविन आलुन रामायण के रूप में गायन, खामती जनजाति का खामति रामायण हो या असमिया का माधवकंदली रामायण, शंकरदेव, माधवदेव, बदला पद्माता की रचनात्मकता, ब्रजबुली का भाषा संस्कार, मणिपुर का गोबिंद मंदिर, त्रिपुरा के जमातिया समुदाय का जनेऊ धारण और मृत्यु संस्कार इसी भारतभाव के चिह्न हैं। संकेत यह है कि सेमेटिक गुलामी के एक लंबे इतिहास के बावजूद एक सांस्कृतिक चेतना जो - "उत्तरं यत्ससमुद्रस्य, हिमाद्रेश्चौव दक्षिणम्, वर्ष तद् भारतं नाम भारती यत्र संतति" की रही है। इसी अर्थ में चीनी यात्री व्हेनसांग आसेतु हिमालय, इस क्षेत्र और यहाँ के लोगों को 'हिंतु' कहकर पुकारता है। गुरु गोविंद सिंह जी कहते हैं 'जगे धर्म हिंदू सकल भंड भाजे'। "भारतीय दर्शन संपूर्ण जीव सृष्टि का विचार करने वाला दर्शन है। संपूर्ण समष्टि का ऐसा शाश्वत् चिंतन किसी भूमि में नहीं है। यहाँ आनंद ही हमारा मूल है। परिवार की उत्पादकीय संपत्ति ही पूँजी थी। चाणक्य खुद कहते हैं, 'मनुष्यानां वृत्ति अर्थ।' इसलिए भारतीय दर्शन योगक्षेम की बात करता है। योग का मतलब है- अप्राप्ति की प्राप्ति और क्षेम का मतलब है-प्राप्त की सुरक्षा। इसलिए चाणक्य कह पाए, श्सुखस्य मूलं धर्म: धर्मस्य मूलं अर्थ:/ अर्थस्य मूलं राज्यं।"[2]

भारत क्या है?- एक बात तो स्पष्ट है कि भारत सत्ता नहीं है। भारतबोध को आप सत्ता की केंद्रीयता में नहीं पढ़ सकते हैं। भारत ज्ञान को राजसत्ता की साधना के लिए प्राप्त नहीं करता है। ज्ञान और त्याग का एक अन्योन्याश्रय पाठ भारत के बोध का केंद्रीय पाठ है। संन्यासी इसी पाठ का मूर्त रूप है। संन्यास समाज की व्यवस्था और पद्धति से इतर ज्ञान की समाज केंद्रीयता का पाठ है। संन्यासी का कोई वर्ग/वर्ण नहीं होता। संन्यासी का कोई कुल/गोत्र नहीं होता। संन्यासी मनुष्य द्वारा बनाई गई किसी भी व्यवस्था से मुक्त होता है। संन्यासी भारत की साधना का कर्मफल विरक्त पाठ है। यही कर्मफल विरक्ति और समाज की केंद्रीयता भारतबोध का मूल तत्व है। इसी कर्मफल विरक्ति और समाजकेंद्रीयता तत्त्व के कारण भारत विश्व में जहाँ भी गया सहभागिता के भाव से गया। भारत विजयी होने का भाव नहीं है। भारत काल की नश्वरता को स्वीकारते हुए परदु:खकातरता का भाव है। भारत नेकी है, भारत देश-देश घूमना है, भारत शरीर की नश्वरता है, भारत उत्सव है। मैं इन दिनों ब्रजक्षेत्र में सक्रिय हूँ। मथुरा के एक कवि हैं- श्ग्वालश। वे रीतिकाल के अंतिम आचार्य माने गए। ग्वाल का जीवनकाल सन् 1802 ई.- सन् 1867 ई. है। ग्वाल सोलह भाषाओं के ज्ञाता थे। ग्वाल ने अपने जीवन में जमकर यात्राएँ कीं। उनकी पंक्ति है -

"श्दिया है खुदा ने खूब खुसी करो ग्वाल कवि खाव पियो, देव लेव, यहीं रह जाना है।
राजा राव उमराव केते बादशाह भए कहाँ ते कहाँ को गए, लग्यो न ठिकाना है।
ऐसी जिंदगानी के भरोसे पे गुमान कैसो देस देस घूमी घूमी मन बहलाना है।
आए परवाना पर चले न बहाना यहाँ नेकी कर जाना है, फेर आना है न जाना है।'[3]

भारत क्या है? भारत यात्राबोध है। भारत देश-देश घूमना है। भारतीय बोध में जीवन, यात्रा है। भक्ति के स्वभाव को समझना हो, लीला को समझना हो, तो इस यात्राबोध को समझना होगा। आदिशंकर से लेकर ग्वाल तक भारतयात्रा का पाठ चिह्नित किया जा सकता है। शंकराचार्य केरल से निकलते हैं, रामेश्वरम व शृंगेरी आते हैं, फिर द्वारिका पधारते हैं और आगे पुरी और गुवाहाटी तक पहुँचते हैं और अंत में बद्रीनाथ केदारनाथ जाते हैं। रामानुजाचार्य ने कर्नाटक, पुरी, दिल्ली और ब्रज क्षेत्र तक की यात्रा की। शंकर के दिग्विजय के पश्चात् रामानुज भी यात्रा करते हैं। स्वामी रामानंद जी ने कश्मीर से कन्याकुमारी तथा द्वारिकापुरी से जगन्नाथपुरी तक संपूर्ण तीर्थों का दर्शन करते हुए समस्त भारत का भ्रमण किया। करीब 700 साल पहले संत शिरोमणि नामदेव महाराज शांति, समता और बंधुता का संदेश देते हुए महाराष्ट्र के पंढरपुर से मेड़ता होते हुए पंजाब के घुमान तक पहुँचे और बीस वर्ष रहे। यह दो हजार किलोमीटर की यात्रा थी। नानकदेव का यात्राबोध तो और भी विशिष्ट है। उन्होंने चार उदासी में कुल सत्तर हजार किलोमीटर की यात्रा की। इसी तरह चौतन्य महाप्रभु बंगाल से होते हुए वृंदावन और फिर जगन्नाथपुरी तक

एक बात तो स्पष्ट है कि भारत सत्ता नहीं है। भारतबोध को आप सत्ता की केंद्रीयता में नहीं पढ़ सकते हैं। भारत ज्ञान को राजसत्ता की साधना के लिए प्राप्त नहीं करता है। ज्ञान और त्याग का एक अन्योन्याश्रय पाठ भारत के बोध का केंद्रीय पाठ है। संन्यासी इसी पाठ का मूर्त रूप है। संन्यास समाज की व्यवस्था और पद्धति से इतर ज्ञान की समाज केंद्रीयता का पाठ है। संन्यासी का कोई वर्ग/वर्ण नहीं होता। संन्यासी का कोई कुल/गोत्र नहीं होता। संन्यासी मनुष्य द्वारा बनाई गई किसी भी व्यवस्था से मुक्त होता है। संन्यासी भारत की साधना का कर्मफल विरक्त पाठ है। यही कर्मफल विरक्ति और समाज की केंद्रीयता भारतबोध का मूल तत्व है

गए। मीरा ने दस प्रांतों की यात्राएँ कीं। शंकरदेव ने असम से चलकर ब्रजक्षेत्र होते हुए दक्षिण तक की यात्रा की। इन संतों की यह यात्रा क्या कहती है? दरअसल इन संतों की यह यात्रा भारत को समझने का पराक्रम है। यह स्मृतिभ्रंश का प्रतिपक्ष है। दुनिया में सेमेटिक शक्तियाँ जहाँ भी गई, उन्होंने पराजित देशों की स्मृति को नष्ट किया। एक सज्जन हुए हैं विद्याधर सूरज प्रसाद दूबे नेपाल - वी.एस. नायपाल। पूर्वज पूर्वांचल से त्रिनिदाद गिरमिटिया मजदूर होकर गए। नेपाल स्ट्रीट पर रहते थे, स्वयं का नाम था विद्याधर, पिता का नाम था सूरज प्रसाद दूबे तो पूर्ण नाम हुआ विद्याधर सूरज प्रसाद दूबे नेपाल। जब लंदन गए तो नेपाल से नायपाल हो गए। इस प्रकार कुल नाम पड़ा विद्याधर सूरज प्रसाद दूबे नायपॉल- वी.एस. नायपॉल। उनकी एक पुस्तक है श्इंडिया अ वुंडेड सिविलाइजेशनश्। पुस्तक दुनिया की एक ताकतवर सेमेटिक मान्यता- इस्लाम को स्मृतिभ्रंश के अपराध का दोषी ठहराती है।"[4] सेमेटिक मान्यताओं ने जब पराजित देशों की सत्ताओं को अपने अधिकार में लिया तो लीला, कला और साहित्य स्मृतिभ्रंश का प्रतिपक्ष बन गए। भारत की स्मृति की लीलाकला केंद्रीयता का एक उदाहरण मैं दे रहा हूँ। मेरी एक मित्र हैं मोनिका चंदा। मेघालय के शिलांग में रहती हैं। भरतनाट्यम की नृत्यांगना हैं। मेरे साथ भारतबोध पत्रिका निकालती हैं। चर्चा हुई कि अविभाजित भारत के पूर्वी बंगाल वाले हिस्से की सांस्कृतिक सातत्यता को कला में कैसे पढ़ा जाए? एक सूचना आई कि असम के करीमगंज जिले के एक मंदिर के पुजारी अपने कुछ स्कूली बच्चों के साथ एक नृत्यविधा की साधना करते हैं। यह नृत्यविधा भारतीय कलाजगत से अब तक अपरिचित थी। इन पुरोहित महोदय का सानिध्य करने से पता चला कि अविभाजित भारत के वर्तमान बांग्लादेश वाले हिस्से के सांस्कृतिक चिह्न इस नृत्यगान में हैं। यह ओझानाच है जो पद्मपुराण पर आधारित है। पूर्वी बंगाल के सनातन घरों में बिशोरी पूजा होती थी। मानुषमंगल गाया जाता था। देवी आराधना होती थी। ओझानाच उस स्मृति का पाठ है। शोध के उपरांत भूपेन हजारिका द्वारा सन् 1972 में निर्मित एक फिल्म का पाठ भी उपलब्ध हुआ, जिसमें ओझानाच के कुछ संदर्भ मिलते हैं। आपसे निवेदन है कि ओझानाच को ओझापाली न समझें। ओझापाली एक अन्य कलाविधा है जो असम के निचले हिस्से में ज्यादा लोकप्रिय है। भारत का भाव, भूगोल और सत्ता से परे का भाव है। यह राजा राव उमराव का भाव नहीं है। यह सत्ताओं के सर्वग्रासी दौर में कलारूपों में रहा है। गुरु-पुरोहित के रूपों में रहा है। हमारे नृत्यरूप चाहे वह भरतनाट्यम हो, कुचिपुड़ी हो, ओडिसी हो या कथक हो- गुरुओं और पौरोहित्य की छत्रछाया में विकसित हुए हैं। भारत ज्ञान की समाज केंद्रीयता है।

भारत के संदर्भ में जब बोध की व्याख्या की जाती है तब एक वाक्य याद आता है - भारत भूमि का एक टुकड़ा मात्र नहीं है, यह एक जीता-जागता राष्ट्रपुरुष है। इसका क्या अर्थ है? जीता-जागता यानी सजीव, संवेदनशील, बोधवान। भारतबोध की सातत्यता को, विजडम की कंटीन्यूटी को, बोध की सातत्यता को, कला और लीला के संदर्भ में कैसे पढ़ा जाए? वे कौन-से कला और लीला चिह्न हैं जो भारत की इस सातत्यता का पाठ उपलब्ध कराते हैं? इससे पहले इस बिंदु पर भी विचार कर लेना उचित रहेगा कि भारत ने अपने को कैसे बरता है? टाइम्स ऑफ इंडिया के एक संपादक हुए हैं, गिरीलाल जैन। उनकी एक पुस्तक है - 'द हिंदू फेनोमेनन'। पुस्तक अमेजन पर उपलब्ध है। पुस्तक का पहला प्रकाशन सन् उन्नीस सौ चौरानवे में हुआ। पुस्तक यूबीएस पब्लिशर्स से छपी है। पुस्तक में छः अध्याय हैं और परिशिष्ट को जोड़ दें तो यह एक सौ पैंसठ पृष्ठ की पुस्तक है। इसका पहला अध्याय है- द सिविलिजेशनल प्रोस्पेक्टिव। उन्होंने एक तर्क चलाया कि "भारत को हम एक सभ्यता के रूप में समझें- एक जीवंत सभ्यता।"[5] स्वामी विवेकानंद, विनायक दामोदर सावरकर, लोकमान्य बालगंगाधर तिलक, रविन्द्रनाथठाकुर, मोहनदास करमचंद गाँधी, आनंद केंटिश मुत्थु कुमारस्वामी- सभी अपने चिंतन में भारत को समझने का तर्क देते हैं। यहाँ एक उल्लेख करना चाहूँगा। एक सज्जन हैं- बेनेडिक्ट एंडरसन् । बेनेडिक्ट एंडरसन् एक सामाजिक-राजनैतिक अध्येता और इतिहासकार रहे हैं। कैंब्रिज कोर्नेल में पढ़े हैं। सन् 2015 ई. में उनका देहांत हुआ। उनकी एक पुस्तक है श्इमेजिंड कम्युनिटीश्। सन् 1983 ई. में पुस्तक का पहला संस्करण वर्सो लंदन से आया। पुस्तक के ग्यारह अध्याय हैं जिसमें वे कल्चरल रूट्स यानी सांस्कृतिक मूल्यों, ऑफिशियल नेशनलिज्म, स्मृति और विस्मृति/ मेमोरी एंड फोर्गेटिंग जैसे विषयों पर विचार करते हैं। एंडरसन की मान्यता है कि "राष्ट्र एक भौगोलिक-राजनैतिक इकाई हो-न-हो, एक अनुभवजन्य इकाई अवश्य है। इसका स्वरूप बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि यह कैसे जिया जा रहा है, कैसे बरता जा रहा है।"[6] स्वयं महर्षि अरविंद राष्ट्र को एक संस्कृति के रूप में अनुभव करने और जीने की बात करते हैं। हमारा अतीत, व्यतीत नहीं है अपितु जीवन का नवनीत है। यह सनातन भावना है। पाप और पुण्य की अवधारणा, सत्य और असत्य की अवधारणा, हिंसा और अहिंसा की अवधारणा, सात्विकता और सदाचरण (सदाचार) की अवधारणा, सहजता और असहजता की अवधारणा, परमतत्त्व की अवधारणा, परमतत्त्व की नजर में बराबर आपके कार्यों का मूल्यांकन होते रहना, अनुशासन की एक वैष्णव व्यवस्था है।

हमारा धर्म क्या था? "हिंदुत्व कोई पूजा पद्धति का नाम नहीं है। हिंदुत्व ने एक सेमेटिक रिलिजन की तरह एक नया रिलिजन नहीं है। हिंदुत्व जो है वह समस्त भाव भावनाओं को एक साथ ले कर चलने वाला महाविधान है, इसका नाम है हिंदुत्व। आज तक भारत में कोई भी उदाहरण नहीं है जो कहता हो केवल और केवल मेरे पंथ के लोग सुखी रहेंगे। भारतीय होने की पहचान यह है कि वह समस्त विश्व कल्याण का लगातार संकल्प लेता रहे।"[7] "भारत धर्म भी है और यह धर्म उपासना - पंथों से परे भी। यह धर्म रीति-रिवाजों से परे है। यह धर्म है- मानवीय मूल्यों का, यह धर्म है - मनुष्य के कल्याण की

दृष्टि का, यह धर्म है - करुणा से संपन्न जीवन जीने के यत्न का। यह एक ऐसा धर्म है, जो त्याग पर आधारित है। यह एक ऐसा धर्म है, जो आस्था पर आधारित तो है लेकिन यह धर्म विवेकयुक्त आस्था का प्रस्ताव करता है, जिसमें अंध आस्था के लिए कोई जगह नहीं बनती है।

ऐसा भारत और इस भारत को जानना, इस भारत को सभी कालखंडों में जानते हुए अपने कालखंड में अवस्थित होकर समझना ही भारतबोध है।"[8] वैदिक साहित्य, श्रीमद्भगवद्गीता एवं रामचरितमानस इसी केंद्रीयता के प्रतीक हैं। कर्म, ज्ञान एवं भक्ति के समन्वय से सत्य और सुंदर की साधना, हमारा सांस्कृतिक हेतु रहा है। इस सांस्कृतिक हेतु की निरंतरता हमारे इतिहासबोध को भी बनाती है। इस इतिहासबोध का प्रतिपक्ष भी भारत में देखने को मिला। "भारत केवल भौगोलिक रचना से नहीं बना है और न तो भारतबोध केवल इतिहास से ही बनता है। वस्तुतः भारतबोध एक सनातन की प्रक्रिया है, जो नित्य और निरंतर, इन दोनों के साथ गुंफित होता है। नित्यता से शाश्वत मूल्य आते हैं तो निरंतरता से समय के साथ उनका समंजन होता है। भारतबोध राष्ट्रीयता है, संस्कृति है और धर्म भी है। 'भारतबोध' पद से जो अर्थ अभिहित होता है - वह सनातन और निरंतर सभ्यता की जीवन-प्रणाली का अर्थाभिधान है।"[9] साधु-संतों की परंपरा, भक्तों की परंपरा, मन्दिर-मठों की परंपरा, परिव्राजकों और संन्यासियों की परंपरा, सत्र और सत्राधिकारों की परंपरा इस देश को भारत बनाती है। उत्तरपूर्व के हिमालय से उत्तरपश्चिम के हिमालय तक फैली हिमालयीय संस्कृति के सूत्र भारतीय सांस्कृतिक जीवन की सातत्यता को व्यक्त करता है। अरुणाचल से लेकर हिमाचल तक का हिमालय और उसका सांस्कृतिक सामाजिक जीवन भारतीय राष्ट्र के बोध को परिभाषित करने का सूत्र देता है।

यह एक सांस्कृतिक राष्ट्र है जिसे हम और आप आज जी रहे हैं। महर्षि वेदव्यास कृत भागवत का एक प्रसंग याद आ रहा है। भागवत के प्रथम स्कन्ध की शुरुआत से पूर्व 'भागवत महात्म्य' है, जिसमें 'नारद भक्ति' संवाद है। नारद भक्ति से पूछते हैं- "काश्चित्वं" "कौन हैं आप?" भक्ति का उत्तर है- "अहम् भक्तिरितिख्याता इमौ में तनयो मतौ। ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ।।" अर्थात् मैं भक्ति हूँ, ये दोनों मेरे पुत्र हैं। ज्ञान और वैराग्य इनके नाम हैं, ये समय के प्रभाव से क्षीण हो गए हैं। 'नारद-भक्ति' संवाद का यह समय संदर्भ वृंदावन का है, वृंदावन कृष्ण का घर है। भक्ति कृष्ण के घर में उदास है और हजारों किलोमीटर दूर प्रागज्योतिषपुर में भक्ति को खुश देखकर उसके स्वर्णिम होने का अहसास होता है। भारतीय जनमानस आध्यात्मिकता सेसराबोर है और यह परंपरा बहुत प्राचीन एवं विलक्षण है। इसकी व्याप्ति महासागर की तरह है।"[10]

भारतबोध के सूत्रों की उपर्युक्त व्याख्या के उपरांत एक जिज्ञासा है कि भारतीय कला रूपों में इन सूत्रों के पाठ कैसे सुनिश्चित किए जाएँ? मैं तो ईशान भारत (पूर्वोत्तर भारत) के जनजातीय समुदायों के बीच कला और प्रदर्शनकारी कलाओं की दृष्टि से सक्रिय हूँ। मैं कह सकता हूँ कि एक सभ्यता के रूप में भारतबोध के सांस्कृतिक चिह्न हमारी कलाओं, गीत-संगीत और साहित्य में पढ़े जा सकते हैं। जिन जनजातीय समुदायों की आस्था सेमेटिक हो चुकी है उनके भी नृत्य,कला और प्रदर्शनकारी कलारूपों में उनकी सांस्कृतिक स्मृति को पढ़ा जा सकता है। उत्सवधर्मिता सांस्कृतिक स्मृति का एक पाठ है। आप बारपेटा का फाग सुने, मांजुली का रास देखें, मणिपुर की गोविंद लीला देखें, या नागालैंड के आओ या कोन्याक समुदाय की कथाओं को सुनें, गारो- खासी-जयंतिया के पारंपरिक भोजन एवं आदतों को पढ़ें तो आपको स्मृतिभ्रंश के विरुद्ध प्रामाणिक संदर्भ मिलेंगे। यह संदर्भ भारत की समाज केंद्रीयता का संदर्भ है, कला केंद्रीयता का संदर्भ है, स्मृति सातत्यता का संदर्भ है।

हजार वर्ष गुलामी का दौर रहा। जो पांथिक लुटेरे आए वो असभ्य बर्बर लोग थे। उनकी सेमेटिक मान्यताओं में तर्क के लिए कोई जगह नहीं थी। उनके लिए हम बुतपरस्त थे। काफिर थे। हमें दुनिया में रहने का हक नहीं था। उनकी शब्दावली में जब हमें ही जीने का अधिकार नहीं था तो हमारा ज्ञान, हमारी पुस्तकें, हमारे मंदिर, हमारी आस्था को कैसे बचे रहने देते!! सन् 1193 ई. में तुर्की आक्रांता बख्तियार खिल्जी ने जब नालंदा विश्विद्यालय[11] को बर्बाद किया तो कहते हैं उस विश्वविद्यालय का पुस्तकालय कई महीने[12] तक जलता रहा। आयुर्वेद, वेदांत और बौद्ध दर्शन के नब्बे लाख पांडुलिपियाँ जला दी गई। हमारे ज्ञान के केंद्र और उसके वाहक आक्रांताओं की घृणा के शिकार होते रहे। ये घृणा सेमेटिक थी। आपको पता है कि सन् 712 ई. में अरब के अल-सकीफ नामक बर्बर कबीले का सदस्य मोहम्मद-बिन-कासिम के सिंध के हिंदू राजा दाहिर पर आक्रमण से लेकर, सन् 1757 ई. के प्लासी के युद्ध में सेमेटिक राजा शिराजुदौला की हार और फिर 22-23 अक्टूबर सन् 1764 ई. को बक्सर के पास चौसा में बंगाल के नबाब मीर कासिम, अवध के नबाब शुजाउदौला और मुगल बादशाह शाह आलम की संयुक्त सेना की ईस्ट इंडिया कंपनी के हेक्टर मुनरों की सेना से पराजित होने तक यानि 1052 वर्ष इस देश में ज्ञान, अभिनय, लीला और कला का दमन काल है। सन् 1757 ई. में पलासी के युद्ध के बाद फिर बक्सर का युद्ध यह तय कर चुका था कि अंग्रेजों का मुकाबला करने वाले नहीं रहे। अंग्रेज समझदार लोग थे। अंग्रेज जानते थे कि घोड़े पर चढ़े हुए पांथिक लुटेरे शासकों को तो उन्होंने निपटा दिया पर असली खतरा गया नहीं है। उन्हें पता था असली खतरा भारतीय मनीषा है। इसीलिए उन्होंने ब्रिटिश घृणा के कुछ चिह्न निश्चित किए। अंग्रेजों को पता था कि भारत पर शासन करने के लिए भारतीय मस्तिष्क पर शासन करना जरुरी है।

सेमेटिक आक्रमणकारियों की इस सामाजिक और बौद्धिक हिंसा का प्रतिपक्ष भारत भक्तिचेतना से बनाता है। भक्ति सेमेटिक सत्ता का मुकाबला प्रदर्शनकारी कला के माध्यम से करती है। इस कालखंड में सत्ता विधर्मियों की है। कला और सनातन दोनों सत्ताच्युत हैं। इस कठिन कालखंड में कला और सनातन को भारतीय समाज आश्रय देता

है, मंदिर, मठ, सत्र और समाज भारतीय कला और धर्म का आश्रयस्थल बनते हैं। भारत के प्रत्येक क्षेत्र की प्रदर्शनकारी कला चाहे पांडवानी हो, नाचा हो, भाओना हो, अंकिया हो, ओजापाली हो, मोनपा समुदाय का अजीलामो हो, मणिपुर का अभंग हो या, रामलीला-रासलीला- ये सभी कलाएँ अपने कथ्य के रूप में भक्ति और लीला को स्वीकारती हैं। इन प्रदर्शनकारी कलाओं का कथ्य भक्ति और लीला है। इन प्रदर्शनकारी कलाओं के नायक राम हैं और कृष्ण हैं। यह सेमेटिक सत्ता के नायकत्व का प्रतिपक्षी नायकत्व तैयार करना है। शक्तिशाली सेमेटिक आक्रांता के प्रतिपक्ष में सनातन सत्ता का वैकल्पिक राग रचना है। इसे आप एक उदाहरण से समझ सकते हैं। गोस्वामी तुलसीदास और मुगल शासक जलालुद्दीन ख्यात नाम अकबर समकालीन हैं। गोस्वामी तुलसीदास काशी में रामलीला की शुरुआत करते हैं। काशी स्थित रामनगर की रामलीला गोस्वामी तुलसीदास द्वारा ही प्रारंभ की गई थी। जब रामलीला समाप्त होती है तो गोस्वामी तुलसीदास जयकारा लगवाते हैं- बोलो राजा रामचंद्र की जय। राजनैतिक राजा तो अकबर है किंतु गोस्वामी तुलसीदास के राजा राम हैं। इस तथ्य का साहित्यिक साक्ष्य उपलब्ध है कि तुलसी ने अकबर द्वारा नवरत्नों में शामिल होने के निमंत्रण को यह कहते हुए ठुकरा दिया कि :

हम चाकर रघुवीर के, पट्यौ लिख्यौ दरबार।
तुलसी अब का होहिंगे नर के मनसबदार।।

यह साहित्यिक साक्ष्य इस तथ्य का प्रमाण है कि कला और लीला में सेमेटिक प्रतिपक्ष का एक सनातन बोध बनाया। यह सनातन बोध भारतीय जिजीविषा को सुनिश्चित करता है और भारतबोध का लीलाभाव बनाता है। "भारत की आत्मा सनातन है, भारतीयता केवल एक भौगोलिक परिवृत्त की छाप नहीं, एक विशिष्ट आध्यात्मिक गुण है, जो भारतीय को सारे संसार से पृथक करता है।"[13]

लीला क्या है? लीला प्रदर्शनकारी कला है। लीला ईश्वर के तरह दिखना है और यह ईश्वर के तरह दिखना सेमेटिक का प्रतिपक्ष है। लीलामय ईश्वर ही लीलारूप है। उसके दृश्यकर्म और गुणों द्वारा ही लीला का प्रदर्शन होता है। यह विराट सृष्टि भी ईश्वर का लीलाक्षेत्र है। लीला शब्द इतना प्रिय है कि इस शब्द का वाणी से स्फुरण होते ही मन प्रफुल्लित हो जाता है। मनीषियों ने लीला शब्द का प्रयोग अपने-अपने ढंग से किया है। हिंदी विश्वकोश में लीला के कई पर्यायवाची शब्द है जैसे केलि, क्रीड़ा, रहस्यमय व्यापार और मनुष्यों के अनुकरण के लिए ईश्वर के अवतारों का अभिनय, चरित लीला आदि। भारतीय मनीषियों ने इस विश्व को ही ईश्वर का विराट लीलाक्षेत्र माना है। भारतीय मनीषियों की दृष्टि में विश्व का स्पंदन ब्रह्म की लीला ही है। यह विराट विश्व उसी ईश्वर की लीला का कार्यरूप है। इसमें जो क्रिया-प्रतिक्रिया हो रही है वही उसकी लीला है। "यह खेल है, क्रीड़ा है, विश्व-क्रीड़ा है; परमात्मा का मनोविनोद है। एक बालक की प्रसन्नता, कवि का उल्लास, अभिनेता का आनंद, महान यांत्रिक विश्वस्रष्टा का समुल्लास, जो सभी वस्तुओं की चिरनूतन आत्मा है, जो सनातन है, अक्षय है और पुनः स्वयं का सृजता है, आनंद का यह आत्म प्रस्तुतीकरण है, वह ब्रह्म स्वयं लीला है, वही लीलामय है और वही लीला-भूमि है।"[14] भक्तिदर्शन के चिंतन परंपरा के अनुसार लीला का संबंध ईश्वर से है। सनातन भावबोध के अनुसार यह चराचर जगत ईश्वर की लीला का परिणाम है। भक्तिदर्शन की मान्यता है कि संपूर्ण सृष्टि सच्चिदानंद की लीला का परिणाम है। यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि स्रष्टा और सृष्टि की मिलन प्रक्रिया का नाम ही लीला है। "लीला के बिना परमात्मा और उसकी रचना को भी समझना संभव नहीं है। लीला ही वह केंद्र है, जो आस्तिक जीवन दर्शन का मूल आधार है। वैष्णव-भावना इस लीला-परिकल्पना पर ही आधृत है।"[15] "भगवान की विलासेच्छा ही 'लीला' है।"[16] यही लीला भारतबोध है। मेरी प्रस्तावना है कि भारत को संगठन, सत्ता और सत्ताकेंद्रित नायकत्व के रूप में नहीं अपितु लीला, कला और समाजकेंद्रित भावबोध के पाठ के रूप में पढ़ा जाना चाहिए। भारत का यही पाठ भारतबोध है।

संदर्भ-

1. भारतबोध का नया समय :- प्रो. संजय द्विवेदी, पृ.-23, यश पब्लिकेशंस नई दिल्ली, भारत, 2022
2. भारतबोध का नया समय :- प्रो. संजय द्विवेदी, पृ.-23, यश पब्लिकेशंस नई दिल्ली, भारत, 2022
3. रचनाकार : ग्वाल - संपादक : महालचंद बयेद, पृ. 396, ओसवाल प्रेस, कलकत्ता,1937
4. इंडिया: ए वाउंडेड सिविलाइजेशन (1977) वी.एस. नायपॉल
5. 'द हिंदू फेनोमेनन - गिरीलाल जैन, यूबीएस पब्लिशर्स, 1994
6. 'इमेजींड कम्युनिटी'-बेनेडिक्ट एंडर, 1983 में पहला संस्करण वर्सो लंदन
7. डॉ कृष्णगोपाल सह सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के वक्तव्य से, https://www.facebook.com/share/r/16aMsDhp3W/?mibextid=wwXIfr
8. भारतबोध सनातन और सामयिक, रजनीश कुमार शुक्ल,पृ.-11, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
9. भारतबोध सनातन और सामयिक - रजनीश कुमार शुक्ल, पृ. -10, प्रभात प्रकाशन, दिल्ली
10. भारत की संत परंपरा और सामाजिक समरसता - डॉ. कृष्णगोपाल, आत्मकथ्य से
11. The University Of Nalanda - D. Sankalia Hasmukh, Page no.-209, B.G Paul Publisher, Madras(India)
12. https://ncert.nic.in/textbook/pdf/ghdv107.pdf
13. भारतीयता (निबंध) - अज्ञेय, हिंदी समय से उद्धृत
14. ए ग्लासरी ऑफ संस्कृत टर्म्स इन द लाइफ डिवाइन, श्री अरविन्द, सं० 1652 ई.
15. रासलीला तथा रासानुकरण विकास: डॉ. वसन्त यामदग्नि, पृ. 45, संगीत नाटक अकादमी, दिल्ली
16. वल्लभाचार्य, सुबोधनी, श्रीमद्भागवत के 3|7|2

मंथन

सामाजिक व अकादमिक सक्रियता का उपक्रम

'मंथन' की सदस्यता लें

एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान से प्रकाशित शोध त्रैमासिक पत्रिका 'मंथन' की सदस्यता लें। भारत–विचार–दर्शन पर केंद्रित इस पत्रिका की सदस्यता के लिए व्यक्ति/संस्थान कृपया निम्न पते पर सूचित करें और शुल्क एकात्म मानवदर्शन अनुसंधान एवं विकास प्रतिष्ठान के नाम से स्टेट बैंक ऑफ इंडिया, नई दिल्ली, एकाउंट नं. 10080533188, आईएफएससी–एसबीआईएन0006199 में जमा करें।

सदस्यता विवरण

नामः..

पताः ....

.... राज्यः .... पिनकोड : ....

लैंड लाइनः .... मोबाइलः (1)................................... (2)..................................

ई मेलः ....पत्रिका भाषा ☐हिंदी/ ☐अंग्रेजी

जन–मार्च 2019 से पुनर्निधारित मूल्य

	भारत में	**विदेश में**
एक प्रति	₹ 200	US$ 9
वार्षिक	₹ 800	US$ 36
त्रिवार्षिक	₹ 2000	US$ 100
आजीवन	₹ 25,000	

नोट : पत्रिका साधारण डाक द्वारा प्रेषित की जाती है। यदि आप पत्रिका स्पीड पोस्ट से प्राप्त करना चाहें, तो कृपया डाक एवं प्रबंधन शुल्क स्वरूप रु 150/- वार्षिक अतिरिक्त राशि का भुगतान करें।

प्रबंध संपादक

'मंथन' त्रैमासिक पत्रिका

एकात्म भवन, 37, दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली–110002

दूरभाष : +91-9868550000, 011-23210074

ई–मेल: info@manthandigital.com

IndianOil

SERVING EVERY MILE, EVERY DAY FOR A NATION ALWAYS ON THE MOVE

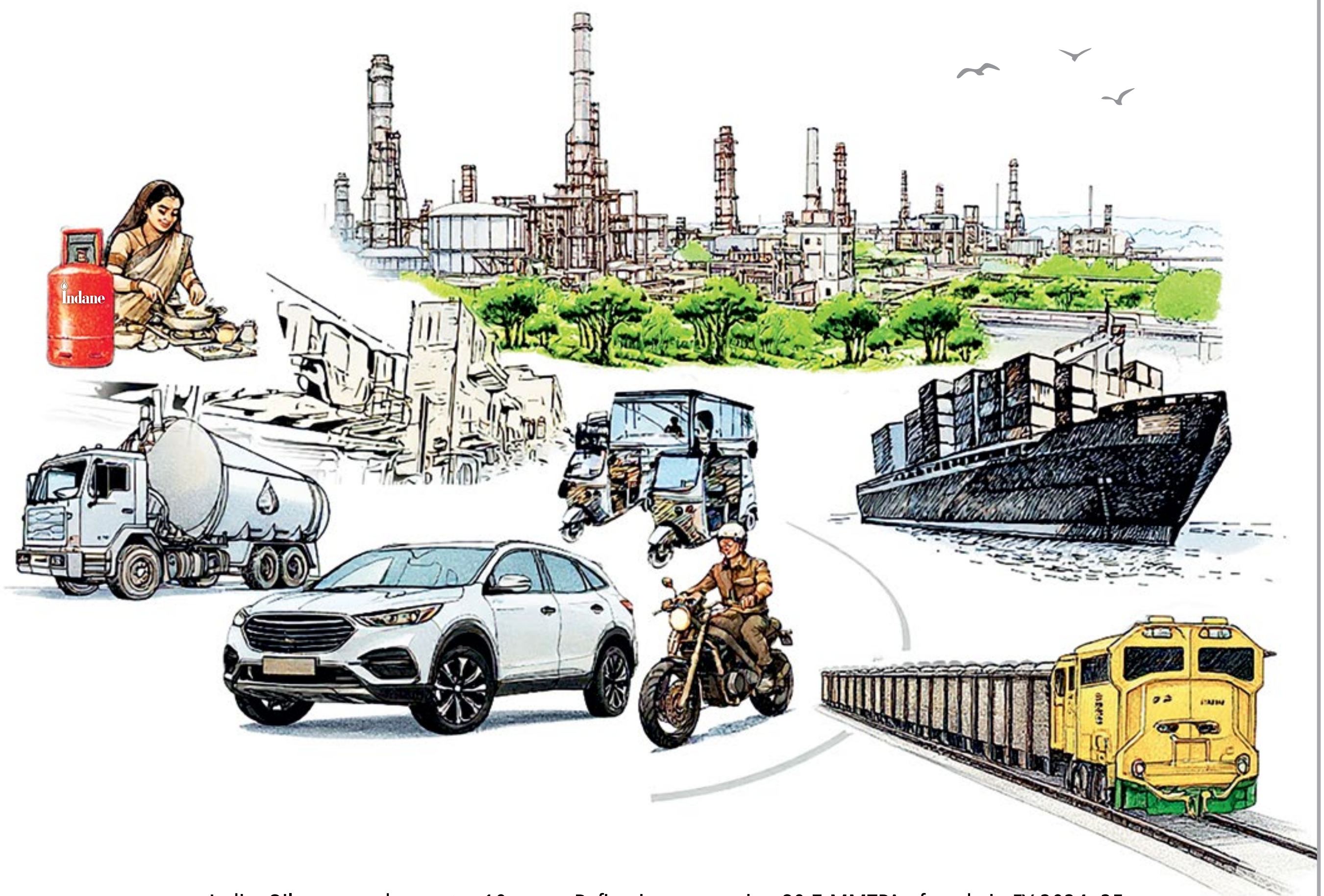

- IndianOil owns and operates 10 group Refineries, processing 80.7 MMTPA of crude in FY 2024–25
- Total pipeline length operated by IndianOil is over 20,000 Km
- Pipelines throughput of over 100 Million Metric Tonnes per annum
- Operates 12,793 Electric Vehicle Charging Stations
- Product sales of over 100 Million Metric Tonnes per annum
- Fuelling journeys across the nation with over 40,000 Retail Outlets
- Over 15 Crore kitchens across India trust Indane LPG

www.iocl.com @IndianOilCorpLimited @indianOilcl @indianoilcorp @IndianOilCorporationLimited @indian-oil-corp-limited

Regd. R.No. 32486/78 (Hindi)